(पंजाब विश्वविद्यालय की 'हिन्दी भूषण', पटना विश्वविद्यालय की बी. ए. तथा मद्रास प्रान्तीय हिन्दी परीक्षाओं में स्वीकृत पाठ्य पुस्तक)

A Guide to Hindi Poetics, Rhetoric and Prosody.

अलङ्कार-प्रवेशिका

(छन्द-परिचय सहित)

लेखक—

रघुनन्दन शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०,

अध्यापक, ओरियएटल कालेज,

पंजाब विश्वविद्यालय,

लाहौर।

Ishwar Ashram Trust LIBRARY ACC. No. All New Delhi

All

प्रकाशक—

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत पुस्तक-विक्रेता,

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

द्वितीय वार ४००० } १६४० { मूल्य १।।)

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
पुस्तक-विक्रेता
बांकीपुर, पटना।

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं।

(*All rights, including those of reproduction, abridgment, keys and notes, are reserved.*)

मुद्रक
शान्तिलाल जैन
बम्बई संस्कृत प्रेस,
शाही मुहल्ला, लाहौर।

प्राक्कथन

यह पुस्तक हिन्दी के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के सुख-बोध के लिये लिखी गई है। इस में नवीन शैली के अनुसार अत्यन्त सरल भाषा में बड़ी स्पष्टता के साथ प्रत्येक अलङ्कार का मर्म समझाने का यत्न किया गया है। प्रत्येक अलङ्कार का विश्लेषण करके उसे उदाहरण में घटा कर दिखाया गया है। अलङ्कारों के परस्पर भेद और उनके भेदक अंश—जिन से विद्यार्थी बुरी तरह उलझन में पड़ जाते हैं,—बड़ी ही सुगमता से स्पष्ट किये गये हैं। साथ ही अलङ्कारों का वर्गीकरण करके उन्हें ऐसे वैज्ञानिक क्रम में रक्खा है, जिस से वे एक दूसरे के पश्चात् निर्भ्रान्त रूप से समझ में आते हुए चले जायँगे।

उदाहरण बड़े सुगम—जो पढ़ते ही समझ में आजायँ—दिये हैं और उन का भी उतना ही अंश दिया है जो प्रकृत अलङ्कार को समझने के लिये उपयोगी है। इस से विद्यार्थियों का परिश्रम हलका हो जायगा और विषय का ग्रहण सुगमता से होगा।

प्रारम्भिक विद्यार्थियों की क्षमता का विचार रखते हुए, इस पुस्तक में केवल पचास अलङ्कार दिये हैं। उनके भी वही भेद दिये हैं जो अत्यन्त विस्पष्ट और प्रसिद्ध हैं। अस्पष्ट और उलझने वाले भेद बिलकुल नहीं दिये। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि इस विषय में सद्यः प्रविविक्षु विद्यार्थियों को प्रारम्भ में ही किसी प्रकार की उलझन या व्यामोह न होने पाय। जितना भी विषय उनको बताया जाय, उसे वे पूरी स्पष्टता से बुद्धिस्थ कर सकें।

पुस्तक के प्रारम्भ में 'विषय-प्रवेश' का एक प्रकरण लगा दिया है जिस से काव्यशास्त्र—जिस का अलंकार एक अङ्ग है—

के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होगी। अन्त में 'छन्द-परिचय' नाम से एक परिशिष्ट जोड़ दिया है जिस में छन्द की परिभाषाओं और हिन्दी के मुख्य २ छन्दों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। प्रायः प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द में दिया है, जिस से उसको स्मरण रखने और छन्द ढूंढने में यथेष्ट सहायत मिलेगी। सब से अन्त में एक 'उदाहरणमाला' का परिशिष्ट रक्खा है जिस में पारिभाषिक ग्रन्थों तथा इतर लब्ध-प्रतिष्ठ महाकाव्यों से बड़े परिश्रम से चुन २ कर उदाहरण संग्रह किये गये हैं। इनका यथायोग्य अभ्यास कर लेने से विद्यार्थियों को छन्दोऽलङ्कार-सम्बन्धी कोई कठिनाई शेष न रह जायगी।

इस सम्बन्ध में मैं अपने पूज्य सुहृद्वर श्री पं० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री तथा श्री पं० रामचन्द्र जी कुशल, शास्त्री का हृदय से धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने अत्यन्त उपयोगी परामर्श देकर इस पुस्तक को यह रूप देने में मेरी असीम सहायता की है।

इस विषय की अन्य प्रचलित पुस्तकों से इस में कितनी नवीनता और विशेषता है—इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। यदि इस पुस्तक से हिन्दी में अलंकारों के बुद्धि-पूर्वक अध्ययन में कुछ भी सहायता मिली और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को इस विषय के समझने और समझाने में अन्य पुस्तकों से कुछ अधिक सुगमता प्रतीत हुई, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

विनीत—

रघुनन्दन

द्वितीय संस्करण

हिन्दी संसार ने जिस सहृदयता से "अलंकार प्रवेशिका" का स्वागत किया है, उस के लिये मैं हिन्दी के प्रेमियों, अध्यापकों और छात्रों का हृदय से धन्यवाद करता हूँ। जिस समय मैंने यह पुस्तक लिखी थी उस समय स्वप्न में भी यह आशा न थी कि "अलङ्कार" जैसे उपेक्षित विषय की पुस्तक का भी दूसरा संस्करण देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। हिन्दी संसार की यह असीम गुण-ग्राहकता है कि उसने इसे अपनाया है। मेरे प्रान्त के दर्जनों अध्यापकों ने प्रसन्नता-भरे शब्दों में मुझे अपने सन्देश भेजे हैं जिन में इस पुस्तक में वर्णित अलङ्कारों के मर्म और भेद समझाने की शैली की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। पंजाब विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने हिन्दी भूषण परीक्षा में नियत करके इस पुस्तक की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार मद्रास प्रान्त की हिन्दी परीक्षाओं में भी यह पाठ्य-पुस्तक का स्थान प्राप्त कर चुकी है। पटना विश्वविद्यालय ने भी अपने हां की बी. ए. परीक्षा में नियत करके इसे गौरवान्वित किया है। एतदर्थ मैं इन सब का आभारी हूँ।

इतने थोड़े से समय में दूसरे संस्करण की मांग निःसन्देह मेरे लिये गौरव और सौभाग्य की बात है। इस संस्करण में यत्र तत्र आवश्यक परिशोधन और परिवर्तन कर दिये हैं जिस से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

भवदीय विनीत—

रघुनन्दन

सहायक ग्रन्थ-सूची

इस पुस्तक के लिखने में निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है। एतदर्थ इनके लेखक-महानुभावों का हृदय से धन्यवाद किया जाता है।

संस्कृत के ग्रन्थ—काव्यादर्श (श्रीदण्डी कृत), काव्यप्रकाश (श्रीमम्मट विरचित), चन्द्रालोक (श्रीजयदेव कृत), अलंकार सर्वस्व (श्रीराजानक रुय्यक कृत), रसगंगाधर (श्रीपण्डितराज जगन्नाथ कृत) साहित्यदर्पण (श्रीविश्वनाथ कृत) तथा उसकी अंग्रेजी भूमिका तथा टिप्पणियां (श्री पी० वी० काणे कृत) आदि आदि।

हिन्दी के ग्रन्थ—कविप्रिया (श्रीकेशवदास कृत), ललितललाम (मतिराम त्रिपाठी कृत), पद्माभरण (कविवर पद्माकर कृत), साहित्यसागर दो भाग (श्रीबिहारीलाल ब्रह्मभट्ट कृत) काव्यकल्पद्रुम (सेठ कन्हैयालाल कृत), अलङ्कारमञ्जूषा (ला० भगवानदीन कृत), भारतीभूषण (सेठ अर्जुनदास केडिया कृत), अलङ्कारपीयूष दो भाग (श्रीयुत 'रसाल' कृत), अलङ्कारकौमुदी (श्री पं० परमेश्वरानन्द कृत), हिन्दी अलङ्कारप्रबोध (श्रीअध्यापक रामरत्न कृत), सरल अलङ्कार (श्रीनरोत्तमदास स्वामी कृत), काव्यामृतबिन्दु (श्रीयुत ललितचन्द्र रैणा कृत), छन्दःप्रभाकर (भानु कवि कृत), हिन्दीपद्यरचना (श्रीरामनरेश त्रिपाठी कृत) आदि आदि।

उदाहरणों के लिये—तुलसीरामायण, तथा श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त, श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, श्री पं० नाथूरामजी शङ्कर शर्मा, श्रीयुत रामनरेशजी त्रिपाठी आदि महानुभावों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है।

समर्पण

मातृ-भाषा हिन्दी की सेवा तथा प्रसार में संलग्न, हिन्दी के प्रेमियों, संरक्षकों, अध्यापकों और विद्यार्थियों के कर-कमलों में अलंकार के रूप में

यह

लघुपुस्तिका

अलंकार-शास्त्र में सुख-प्रवेश के लिये उन्हीं की श्रेणी के एक हिन्दी-साहित्य के अकिंचन सेवक की ओर से सप्रेम और सादर समर्पित की जाती है ।

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
	विषय-प्रवेश	
	काव्य का लक्षण	६
	शब्द की शक्तियां	१२
	रस-निरूपण	१६
	काव्य के भेद	२६
	काव्य के गुण	३१
	काव्य के दोष	३२
	काव्य की वृत्तियां या रीतियां	३३
	काव्य के अलङ्कार	३४
	अलङ्कारों के भेद	३७
	अलङ्कार-निरूपण	
	शब्दालंकार	४३
१.	अनुप्रास	४५
२.	लाटानुप्रास	५४
३.	यमक	५६
४.	पुनरुक्तवदाभास	५६
५.	शब्द-श्लेष	६१
६.	वक्रोक्ति	६४
७.	भाषा-संकर	६६
	अर्थालंकार	७०
	(१) सादृश्यमूलक	
८.	उपमा	७१
९.	उपमेयोपमा	७६
१०.	अनन्वय	८०
११	स्मरण	८१
१२.	रूपक	८२
१३.	सन्देह	८८
१४.	भ्रांतिमान्	९१
१५.	उल्लेख	९५
१६.	अपह्नुति	९७
१७.	उत्प्रेक्षा	१०४
१८.	अतिशयोक्ति	१११
१९.	तुल्ययोगिता	११६
२०.	दीपक	१२०
२१.	प्रतिवस्तूपमा	१२१
२२.	दृष्टान्त	१२३
२३.	निदर्शना	१२५
२४.	व्यतिरेक	१२७

सं०	विषय	पृष्ठ
२५.	समासोक्ति	१२८
२६.	अर्थ-श्लेष	१३०
२७.	अप्रस्तुतप्रशंसा	१३२
२८.	अर्थान्तरन्यास	१३३
२९.	पर्यायोक्ति	१३६
३०.	व्याजस्तुति	१३९
३१.	आक्षेप	१४१
	(२) विरोधमूलक	
३२.	विरोधाभास	१४३
३३.	विभावना	१४४
३४.	विशेषोक्ति	१४९
३५.	असंगति	१५०
	(३) न्याय-मूलक	
३६.	काव्यलिङ्ग	१५३
३७.	परिवृत्ति	१५५
३८.	परिसंख्या	१५६
३९.	काव्यार्थापत्ति	१५७
४०.	प्रतीप	१५८
	(४) शृंखलाबन्धमूलक	
४१.	एकावली	१६२
४२.	कारणमाला	१६५
४३.	सार	१६७
	(५) गूढार्थप्रतीतिमूलक	
४४.	व्याजोक्ति	१६९
४५.	निरुक्ति	१७०
४६.	लोकोक्ति	१७२
४७.	स्वभावोक्ति	१७२
४८.	अत्युक्ति	१७३
	उभयालङ्कार	१७६
४९.	संसृष्टि	१७७
५०.	संकर	१७८
	परिशिष्ट (क)	
	छन्दपरिचय	१८०-२११
	परिशिष्ट (ख)	
	उदाहरण-माला	२१२-२२०

अलङ्कार-प्रवेशिका

विषय-प्रवेश

अलङ्कारों के यथार्थ ज्ञान के लिये काव्य और उसकी कुछ एक परिभाषाओं का जान लेना अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। अतः इस प्रकरण में काव्य-सम्बन्धी साधारण ज्ञान का परिचय दिया जाता है।

काव्य का लक्षण

आचार्यों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार काव्य के भिन्न भिन्न लक्षण किये हैं। वस्तुतः काव्य एक ऐसी अनिर्वचनीय और रसमयी वस्तु है, जिसका हम आस्वादन कर सकते हैं, पर वर्णन नहीं कर सकते। जैसे मिठाई के स्वाद को शब्दों द्वारा प्रगट करना कठिन है, ऐसे ही काव्य की परिभाषा बनाना भी कठिन है। यह एक दम अनुभव और आस्वाद की वस्तु है।

प्रायः सारे ही आचार्यों के लक्षणों का सारांश यह है कि 'चमत्कारक शब्दों के द्वारा चमत्कारक अर्थ (भाव या विचार) को प्रगट करना काव्य है'[1]। 'काव्य एक ऐसी ललित रचना का नाम है, जिससे लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति हो'[2]। 'रमणीय अर्थ को

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। (भामह)

२ लोकोत्तरानन्ददाता प्रबन्धः काव्यनामभाक्। (अ० व्यास)

प्रतिपादन करने वाले शब्द काव्य कहाते हैं'[1]। 'रसपरिपूर्ण वाक्य-समूह को काव्य कहते हैं'[2]।

इन लक्षणों में 'चमत्कारक', 'रमणीय', 'लोकोत्तर आनन्द-प्रद' आदि शब्द प्रायः एक ही ध्येय को प्रगट करते हैं। इनका भाव यह है कि साधारण शब्दों में साधारण विचार को प्रगट करने का नाम काव्य नहीं है। अन्यथा धर्मग्रन्थ, इतिहास और व्याकरण के ग्रन्थ भी काव्य कहाते। काव्य की विलक्षणता इसी में है कि उस के शब्द, भाव और वर्णन करने की शैली सब अनूठे और निराले ही होते हैं। उन में लालित्य, रोचकता, मनोरञ्जकता और कुछ अद्भुत चातुरी का पुट रहता है जो पढ़ते ही पाठक के हृदय को आकृष्ट कर लेता है। इस 'चमत्कार' या 'रमणीयता' के विना कोई रचना या ग्रन्थ काव्य नहीं कहा सकता।

रमणीयता के साथ 'लोकोत्तर आनन्द' या 'रस' शब्द भी लक्षण में आया है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य का आनन्द, लोक से उत्तर अर्थात् परे का आनन्द है। यह साधारण लौकिक आनन्द नहीं जिस में सुख-दुख दोनों का संपुट रहता है। यह संसार की वस्तु नहीं जो आत्मीयों के सुख में सुख और दुःख में दुःख का अनुभव कराए। जिन से हम परिचित नहीं, उन के सुख-दुःख से हमें कोई सम्बन्ध ही नहीं। पर काव्य का पाठक सांसारिक आत्मीयता से ऊपर उठ कर मनुष्यमात्र में आत्मीयता का अनुभव करता हुआ अपने आप को भूल सा जाता है। वह काव्यगत चरित्र में अपने आप को विलीन सा

१ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। (जगन्नाथ)

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। (विश्वनाथ)

कर देता है। यही कारण है कि हरिश्चन्द्र, हकीकत और सीता के चरित्र को पढ़ते हुए वह आंसू बहा देता है। राम, अर्जुन, शिवाजी और श्रीगुरुगोबिन्दसिंह जी के चरित्र को पढ़ने से उस के दिल में वीरता की एक लहर सी उमड़ आती है। शकुन्तला, दुष्यन्त के पाठ से उस का हृदय कोमल भावों से लावित हो जाता है।

साथ ही संसार में सुख के हेतु अलग हैं और दुःख के हेतु अलग। पर काव्य एक ऐसी अलौकिक, अद्भुत और विलक्षण वस्तु है जिस में दुःख का लेश मात्र भी नहीं। हरिश्चन्द्र या सीता के चरितों को पढ़ता हुआ और आंसू बहाता हुआ भी पाठक आनन्द का ही अनुभव करता है और बार २ उन्हीं को पढ़ने की ओर आकृष्ट होता है। यही अलौकिकता और आनन्दप्रदता काव्य का विशेष लक्षण है। इसी लिये 'काव्यानन्द' को 'ब्रह्मानन्द' का सहोदर कहा गया है। जैसे योगी ब्रह्मानन्द में संसार और अपने आप को भूल जाता है। और दुःख-लेश-शून्य अनवरत सुख का ही अनुभव करता है, इसी प्रकार सहृदय काव्यरसिक भी संसार और अपने आप को भूल कर दुःख-लेश-शून्य अनवरत आनन्द का ही अनुभव करता है। इसी को लोकोत्तर आनन्द कहते हैं।

इस प्रकार काव्य का व्यापक लक्षण यही ठहरता है कि—

" चमत्कारक शब्दार्थयुक्त एवं अलौकिक आनन्दप्रद (रसात्मक) कविकृति को काव्य कहते हैं "।

वस्तुतः काव्य एक ललित-कला है जिस में कवि शब्दों और

ध्वनियों की सामग्री से अत्यन्त आकर्षक और मनोरञ्जक दृश्य रच देता है।

शब्द-शक्ति-निरूपण

काव्य के उपर्युक्त लक्षण का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि काव्य के शब्द भी चमत्कारक हों और उन से द्योत्य भाव—विचार या अर्थ—भी चमत्कारक हों और उन दोनों के द्वारा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो। अर्थात् अलौकिक आनन्द काव्य का ध्येय है। और चमत्कारक शब्द और अर्थ उस का स्वरूप हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि काव्य के प्रधान अंग या उस के स्वरूप के दो बड़े भाग 'शब्द' और 'अर्थ' हैं। अतः शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये।

शास्त्र की परिभाषा में शब्द उस ध्वनि या ध्वनिसमूह को कहते हैं जिस का कुछ अर्थ हो। निरर्थक ध्वनियों को व्याकरण और साहित्य शास्त्र में शब्द का नाम नहीं दिया जाता। शब्द एक प्रकार से विचारों को प्रगट करने के ध्वनिमय संकेत हैं जो वर्णों या अक्षरों के समूह से बनते हैं। शब्दों ही से वाक्य बनता है और वाक्यों से बड़े बड़े काव्य, शास्त्र तथा वेद आदि सद्ग्रन्थ बने हुए हैं। अतः भाषा और साहित्य का मूल शब्द ही हैं जिन्हें भली प्रकार समझ लेने से सारा विषय सुगम हो जाता है।

ऊपर कह आये हैं कि "अर्थवान् ध्वनियों" को शब्द कहते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। अर्थात् जहां शब्द होगा, वहां अर्थ भी होगा। जहां अर्थ

नहीं, वहां शब्द अपने शब्दत्व धर्म से शून्य होकर ध्वनिमात्र रह जायगा। अतः प्रत्येक शब्द में अर्थ होता है। पर अर्थ को प्रगट करने का प्रकार सभी शब्दों में एक सा नहीं होता। कुछ सीधे साधे शब्द उच्चारणमात्र से निज अर्थ का बोध करा देते हैं। जैसे 'गौ', 'घर' इत्यादि। पर कुछ शब्द ऐसे हैं जिन से सीधा अर्थ न निकल कर कुछ पेचदार अर्थ निकलता है और उनका अर्थ निकालने में सीधा अर्थ छोड़ कर कुछ ऊहापोह करना पड़ता है। जैसे किसी ने कहा,— 'वह बालक तो गधा है'। अब यहां 'गधा' का जो सीधा अर्थ 'पशु विशेष' है, वह तो बालक में घटता नहीं, अतः कुछ ऊहापोह करके 'गधे जैसा मूर्ख, जड़बुद्धि' अर्थ लगाना पड़ता है। इन दोनों से भिन्न अर्थव्यक्ति का एक और प्रकार है जहां शब्दों का सीधा साधा अर्थ रहते हुए भी कुछ और ही अर्थ निकाला जाता है। जैसे किसी विद्यालय के छात्र अध्यापक से कहें,—"श्रीमान् जी, घण्टी बज गई है"। इसका सीधा अर्थ तो घण्टी का बजना है, पर अध्यापक झट समझ जाता है कि 'अब इस श्रेणी को छोड़ कर दूसरी श्रेणी में चलना चाहिये'।

इस प्रकार शब्दों में अर्थव्यक्ति की तीन मुख्य शक्तियां हैं जिनके द्वारा शब्द अभीष्ट अर्थ को प्रगट करने में समर्थ होते हैं। इनके नाम हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

(१) अभिधा

शब्दों के सांकेतित अर्थ[1] (कोष आदि में निश्चित या व्यवहार

---

१ सांकेतित अर्थ से अभिप्राय उस अर्थ का है जिससे शब्द के सुनते ही श्रोता के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का संकेत सा बन जाता है। जैसे जब हम कहते हैं—'गौ', तो एक विशेष प्रकार की शकल या चित्र

में प्रचलित वाच्य अर्थ) को प्रगट करने वाली शक्ति का नाम अभिधा है। इस से शब्द का सीधा साधा साधारण अर्थ प्रगट होता है। जैसे—'वह बालक पुस्तक पढ़ रहा है" इस वाक्य में बालक, पुस्तक और पढ़ना के जो लोक-प्रसिद्ध अर्थ हैं उन्हीं से अर्थसङ्गति ठीक लग गई। अत: इस को अभिधा कहते हैं।

अभिधा के द्वारा प्रगट होने वाले अर्थ को 'वाच्यार्थ' कहते हैं और वाच्यार्थ को प्रगट करने वाले शब्द को 'वाचक' कहते हैं। अर्थात् 'गौ' यह वाचक शब्द है, 'गौ' का अभिधेय पशु इसका वाच्यार्थ है और अर्थ प्रगट हुआ 'अभिधा शक्ति' के द्वारा।

हमारे मस्तिष्क में बन जाता है। फिर जब हम कहते हैं—'घास चर रही है', तो घास चरने की क्रिया का भी एक चित्र बँध जाता है। जिस पदार्थ का चित्र न बने उसे हम कहते हैं कि 'इसका हमें ज्ञान नहीं, यह समझ में नहीं आया'। अतः सारा ज्ञान और भाषा-व्यवहार इन्हीं चित्रों के आश्रय से होता है।

द्रव्यों की भान्ति 'खाना, पीना, पढ़ना, सोना, बुनना, सीना, मारना आदि क्रियाओं के भी भिन्न २ चित्र होते हैं। जैसे हम कहें 'एक राजा था। उस का एक महल था। उस के आठ द्वार थे। कमरे में दस कुर्सियां पड़ी थीं। उन में से एक पर रानी बैठी थी। उसके हाथ में एक फूल था। महल की छत पर चार चिड़ियां बैठी थी,—इत्यादि पढ़ने सुनने से मस्तिष्क में क्रम पूर्वक चित्र से बनते चले जाते हैं। इन्हीं चित्रों को संकेत कहते हैं और संकेतित मात्र अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं।

भाषा में अभिधा का प्रयोग अत्यधिक होता है । इसी से निर्भ्रान्त रूप से अर्थ का बोध होता है। पर काव्य की दृष्टि से इस में विशेष चमत्कार नहीं होता । अतः काव्य में अभिधा का विशेष महत्व नहीं है ।

(२) लक्षणा

जहां वाच्य अर्थ असंगत होने से छोड़ना पड़े और वाच्य अर्थ सम्बन्धी दूसरे अर्थ को (रूढ़ि या विशेष प्रयोजनवश) लिया जाय वहां लक्षणा होती है[1] । जैसे 'उसका मुख तो निरा चांद है' । इस वाक्य में चांद कहने से जो संकेत बनता है, वह मुख में असम्भव है। अतः चांद का वाच्य अर्थ असंगत होने से छोड़ना पड़ा । फिर अतिशय-सौंदर्य-द्योतन के प्रयोजनवश चांद का अर्थ चांद न लेकर तत्सम्बन्धी सुन्दरता और चारुता का अर्थ लेकर 'उसका मुख चांद के समान सुन्दर है' यह वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अर्थ किया गया । यह लक्षणा के द्वारा हुआ ।

लक्षणा में अर्थ निकालने के लिये कई प्रकार के सम्बन्ध जोड़े जाते हैं। कहीं सादृश्य-सम्बन्ध, कहीं सामीप्य सम्बन्ध और कहीं कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध । अभिप्राय यह है कि इस में वाच्यार्थ का बाध आवश्यक है और उसके साथ वाच्यार्थ-सम्बन्धी अर्थ का लेना और उसके लिये किसी विशेष प्रयोजन या रूढ़ि का होना भी जरूरी है ।

---

१ जहँ अभिधा के अर्थ में, बाध अर्थ कछु होय ।
अन्य अर्थ लक्षित करैं, कहत लक्षणा सोय ॥
(बिहारीलाल भट्ट)

लक्षणा के कुछ उदाहरण ये हैं—'मेरा सिर न खा'। 'वह किताबों का कीड़ा है'। 'वह हमारी जाति का भूषण है'। 'यह सड़क कहां को गई है'। 'भारत दुःखी है'। गाड़ी पर चढ़े हुए कहते हैं—'लाहौर आगया'। आमों को देख कर कहते हैं—'ये तो शहद के घड़े हैं'। 'पंजाब केसरी'। 'शैतान का चरखा'। 'बातों का जाल'। 'प्रेम में अन्धा'। इत्यादि इत्यादि।

लक्षणा के द्वारा प्रगट होने वाले अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं, और 'लक्ष्यार्थ' को प्रगट करने वाले शब्दों को 'लक्षक' कहते हैं। अर्थात् उक्त उदाहरण में 'चांद' यह लक्षक शब्द है और 'चांद के समान सुन्दर' यह लक्ष्यार्थ है, और इस अर्थ को प्रगट करने वाली शक्ति का नाम है लक्षणा।

लक्षणा के प्रयोग से भाषा में एक विशेष प्रकार का लालित्य आजाता है जिससे काव्य में इसका विशेष आदर है।

(३) व्यञ्जना

जहां वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बाद भी और अर्थ निकले वहां व्यञ्जना होती है[१]। जैसे "घण्टी बज गई"। इसका वाच्यार्थ समझ लेने के बाद भी अध्यापक एक और अर्थ को समझता है—'कि अब इस श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाना चाहिये'—यह व्यञ्जना का विषय है। यह अभिधा नहीं है, कारण कि 'घण्टी बज गई' इन शब्दों का वाच्य अर्थ ठीक संगत है। और वाच्य अर्थ का बाध न होने से यह लक्षणा भी नहीं। अतः 'अब दूसरी श्रेणी में चलो' यह अर्थ व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत हुआ।

---

१ अभिधा बहुरि सुलक्षणा इनके आसय पाय।
अन्य अर्थ व्यञ्जित करैं व्यंग व्यञ्जना गाय॥ (बिहारी०)

'हम गंगावासी हैं'। इस में गंगावासी का वाच्य अर्थ है "गंगा के रहने वाले"। गंगा का संकेत 'नदी' या 'जलप्रवाह' में होता है। यहां 'गंगा—जलप्रवाह—के रहने वाले' यह वाच्यार्थ असंगत है। अतः सामीप्य-सम्बन्ध से 'गंगा के पास—गंगा के किनारे पर बसे हुए किसी हरिद्वार आदि शहर के रहने वाले' यह अर्थ लक्षणा के द्वारा हुआ। पर जब कोई मांगने वाला साधु आकर यह कहता है कि हम 'गंगावासी हैं' तो उसका अभिप्राय यह होता है कि "पतितपावनी गंगा के किनारे हरिद्वार आदि पवित्र शहर के रहने वाले हम बड़े पवित्र और तुम्हारे दान के योग्यतम अधिकारी हैं। हमें दान देना बड़ा पुण्य है"। यहां 'हमें दान देना बड़ा पुण्य है' यह अर्थ लक्ष्यार्थ के बाद व्यञ्जना के द्वारा निकला।

व्यञ्जना से प्रगट होने वाले अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' और व्यंग्यार्थ को प्रगट करने वाले शब्दों को 'व्यञ्जक' शब्द कहते हैं। अर्थात् उक्त उदाहरण में 'घण्टी बज गई' ये व्यञ्जक शब्द हैं और 'अब दूसरी श्रेणी में चलना चाहिये' यह व्यंग्यार्थ है। और यह अर्थ व्यक्त हुआ व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा।

व्यञ्जना से एक ही शब्द के कई व्यंग्यार्थ निकल सकते हैं। अर्थ का निश्चय श्रोता, वक्ता, परिस्थिति, प्रकरण, देश और काल आदि पर निर्भर है। गली में खेलते हुए बच्चों को माता कहती है—'अरे, सूर्य अस्त हो गया'। बच्चे इसका यह व्यंग्यार्थ लेते हैं कि 'अब खेल बन्द करके घर चलो'। यही वाक्य वन में गौएं चराने वाले को कहा जाय तो वह उसका अर्थ यह लेगा कि, 'अब गौएं इकट्ठी कर लो'। किसी ब्रह्मचारी-आश्रम में इसी वाक्य

का यह अर्थ होगा कि 'सन्ध्या की घण्टी बजा दो'। मजदूरों के सामने यही वाक्य कहने से यह अर्थ लिया जायगा कि 'काम बन्द करके छुट्टी करो'। किसी डाकुओं के गिरोह में इसी वाक्य का यह अर्थ होगा कि डाका मारने के लिये जाने की तैयारी करो'। इस प्रकार वक्ता, श्रोता, देश, काल और परिस्थिति आदि के भेद से एक ही वाक्य के कई व्यंग्यार्थ हो सकते हैं।

व्यञ्जना और लक्षणा में यह भेद है कि—

(१) लक्षणा में वाच्यार्थ का बाध आवश्यक है। व्यञ्जना में वाच्यार्थ के बाध की आवश्यकता नहीं।

(२) लक्षणा में वाच्यार्थ-सम्बन्धी अर्थ का ही ग्रहण होता है। व्यञ्जना में वाच्यार्थ-सम्बन्धी अर्थ के ग्रहण का नियम नहीं। इस में उस से परे के व्यञ्जित अर्थ का बोध होता है।

(३) लक्षणा में एक ही अर्थ लिया जाता है, पर व्यञ्जना में देश, काल, परिस्थिति और श्रोता आदि के भेद से एक ही वाक्य के भिन्न २ अर्थ लिये जाते हैं।

व्यञ्जना के प्रयोग से भाषा में चमत्कार का अतिशय आधिक्य आ जाता है। अतः इस को काव्य में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है।

शक्तियों के सम्बन्ध में इन शब्दों का अर्थ भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

शक्ति	अभिधा	लक्षणा	व्यञ्जना
शब्द	वाचक	लक्षक	व्यञ्जक
अर्थ	वाच्यार्थ	लक्ष्यार्थ	व्यंग्यार्थ

रस-निरूपण

काव्य के लक्षण में यह बात कह आये हैं कि 'लोकोत्तर आनन्द या रस की प्राप्ति काव्य का ध्येय है'। लोकोत्तर आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। इसका अर्थ है—'आस्वाद—लुत्फ़, मज़ा या आनन्द। काव्य के द्वारा 'रस' या आनन्द की प्राप्ति कैसे होती है—किसी काव्य को पढ़ कर हमें लुत्फ़ या मज़ा कैसे मिलता है—यह बात भी संक्षेप से समझ लेनी चाहिये।

मनुष्य के हृदय में कुछ भाव—प्रेम, हास, शोक, घृणा, क्रोध आदि—स्थायी रूप से प्रसुप्तावस्था में विद्यमान हैं। किसी २ मनुष्य में कोई भाव अधिक प्रबल और कोई दुर्बल होता है। पर ये होते सब में हैं और प्रकृतिदत्त होते हैं। जब मनुष्य किसी घटना को देखता है, तो उस का भाव प्रसुप्तावस्था से उठ कर जागृत अवस्था में आ जाता है। घृणा का भाव सब में है, पर किसी गन्दी सड़ी हुई वस्तु को देख कर वह उद्दीप्त हो उठता है और मनुष्य अपनी चेष्टाओं—नाक के आगे रुमाल देना, आंखें सिकोड़ना आदि से और कभी २ शब्दों के द्वारा उसे व्यक्त कर देता है। अन्यथा साधारण अवस्था में घृणा का भाव अन्दर ही सोया रहता है। इसी प्रकार अन्य क्रोध आदि भाव भी घटना विशेष के संसर्ग से जाग उठते हैं।

इसी नियम के आधार पर जब मनुष्य किसी चमत्कृत काव्य को पढ़ता है, या नाटक का अभिनय देखता है, तो उस का हृद्गत स्थायी भाव क्रमशः विकसित और उद्दीप्त होकर अभिव्यक्त हो जाता है। स्थायी-भाव की इस अभिव्यक्ति को ही 'रस' कहते हैं।

स्थायी-भाव के अभिव्यक्त या जागृत होने का क्रम यह है—आलम्बन और उद्दीपन विभावों से उस में कुछ चेष्टा सी आती है। फिर अनुभावों के द्वारा उस की अनुभूति होती है और संचारीभावों के द्वारा संचरण करता हुआ स्थायीभाव अभिव्यक्तावस्था में पहुंच कर 'रस' या रस्यमानता को प्राप्त होता है[1]।

अतः रस को समझने के लिये स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों को भी संक्षेप से जान लेना चाहिये।

स्थायिभाव

ये मनुष्य में प्रकृति से ही स्थायीरूप में विद्यमान हैं, और सदा प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। बाहरी किसी घटना के संपर्क से ये उद्दीप्त हो उठते हैं। काव्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित दस स्थायीभाव अपेक्षित हैं।

(१) रति (प्रेम)।	(६) भय।
(२) हास।	(७) घृणा।
(३) शोक।	(८) विस्मय।
(४) क्रोध।	(९) शम।
(५) उत्साह।	(१०) स्नेह।

विभाव

ये सोये हुए स्थायीभाव को चेष्टा में ले आते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—

(१) आलम्बन विभाव। (२) उद्दीपन विभाव।

---

१ अनुभाव और विभाव अस द्वै भांति संचारी जहां।
मिल थाई को पूरण करें सो सुकवि रस जानो तहां।
यह थाई ही रस रूप है……। (बिहारी०)

आलम्बन वे हैं जिनके आश्रय पर स्थायीभाव अवलम्बित होता है। जैसे सीता की करुणा कथा पढ़कर मनुष्य का 'शोक' स्थायीभाव सचेष्ट हो जाता है और मनुष्य आँसू बहाने लगता है। इस में 'सीता' शोक स्थायीभाव का आलम्बन विभाव है, कारण कि 'सीता' पर अवलम्बित होकर ही स्थायी बाद में जागृत होता है।

उद्दीपन विभाव वे हैं जिन से स्थायीभाव की कुछ उद्दीप्ति होती है। जैसे सीता का गर्भावस्था में घर से निकाल देना और निर्जन वन में उसे अकेली छोड़ देना आदि देश, काल, एवं परिस्थिति आदि का वर्णन उद्दीपन विभाव हैं। अथवा रति स्थायीभाव के लिये चाँदनी रात, वसन्तऋतु आदि उद्दीप्ति के सामान उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव

ये स्थायीभाव की अनुभूति करा देते हैं। विभाव—आलम्बन और उद्दीपन—बाह्य परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, पर अनुभावों का सम्बन्ध अन्तरात्मा से है। विभावों के द्वारा उद्दीप्त हुआ स्थायीभाव अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है। जैसे सीता की क्रन्दनध्वनि सुनकर या उसके इतर दुःखों का हाल पढ़कर अन्तरात्मा में एक विशेष अनुभूति उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य का हृदय पिघल जाता है और वह मन ही मन सीता से सहानुभूति प्रगट करता हुआ कभी दैव को कोसने लगता है, कभी राम को भला बुरा कहता है, कभी एक निःश्वास लेकर रह जाता है, और कभी कभी कोई आंसू बहा देता है। ये सब अनुभाव हैं।

अनुभावों का एक भेद 'सात्विकभाव' हैं । इनका सम्बन्ध उन विकारों से है जो मनुष्य के मन का चित्र उसके चेहरे पर अङ्कित कर देते हैं। एक मनुष्य के चेहरे को देखकर हम जान जाते हैं कि वह दुःखी या वियोगी है, या क्रोध में है इत्यादि। जैसे अत्यन्त प्रेम में गले का रुकना, पसीना आना, रोमाञ्च होना, अंगों का कांपना इत्यादि सात्विक भाव कहे जाते हैं। अभिनय में इनका प्रदर्शन अभिनयकला का उत्कृष्टतम निदर्शन माना जाता है। ये साधारणतया आठ हैं❀—

(१) स्तम्भ	(५) कम्प,
(२) स्वेद	(६) मुख की विवर्णता,
(३) रोमाञ्च	(७) अश्रुपात
(४) स्वरभंग	(८) प्रलय (मृत्यु या मूर्छा)।

सञ्चारीभाव

ये स्थायीभावों के साथ सञ्चरण करते हैं। ये स्थिर नहीं होते इसलिये इन्हें व्यभिचारीभाव भी कहते हैं। ये संख्या में ३३ माने जाते हैं—

निर्वेद, ग्लानि, असूया, मद, स्मृति, शङ्का, श्रम, आलस्य, चिन्ता, दीनता, मोह, चपलता, व्रीड़ा, जड़ता, हर्ष, धृति, आवेग, औत्सुक्य, निद्रा, गर्व, अपस्मार, स्वप्न, व्याधि, विबोध, विषाद, अवहित्था, त्रास, उग्रता, वितर्क, उन्माद, अमर्ष, मति और

❀ स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च स्वरभंग कंप वैवर्ण।
आंसू, औरौ प्रलय कहि, आठौं ग्रन्थन वर्ण॥
(रसराज)

मृत्यु*। ये ३३ व्यभिचारी भाव अपने अपने स्थायीभावों में यथोपयोग प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार स्थायीभाव रूपी बीज आलम्बनरूपी पृथ्वी का आश्रय लेकर उद्दीपनरूपी जल से सिञ्चित, अनुभावों द्वारा प्रस्फुटित, सात्विकभावों द्वारा अंकुरित होकर और संचारी भावों द्वारा पुष्टि और वृद्धि को प्राप्त कर रस रूपी हरे भरे पौदे के रूप में आ जाता है।

पर यह स्मरण रखना चाहिये कि काव्यगत ये स्थायीभाव सदा सुख और आनन्द ही देते हैं। लोक में 'शोक' स्थायीभाव किसी प्रिय बन्धु की मृत्यु से उद्दीप्त होता है, तो उस से दुःख होता है। पर काव्य में जब हम इसकी उद्दीप्ति अनुभव करते हैं तो इस से हृदय पिघल जाता है, आंसू भी आ जाते हैं, पर दुःख नहीं होता। प्रत्युत हृदय के पिघलने से उस पुस्तक के पढ़ने की ओर अत्यधिक आकर्षण होजाता है। इसी प्रकार बीभत्स रस

---

* आदि निरवेद ग्लानि कहत असूया मद,
इसमृति शंका श्रम आलस प्रमानिये;
चिन्ता दैन्यता औ मोह चपलता व्रीडा पुनि,
जडता हरष धृति आवेगहु जानिये।
औतसुक्य निद्रा गर्व अपस्मार सुप्ति व्याधि,
बोध औ विषाद अवहित्थ त्रास मानिये।
उग्रता वितर्क उन्माद अमर्ष मती,
निधन समेत नाम तेंतिस बखानिये॥
(साहित्य सागर)

में भी आस्वाद ही आता है। यही तो काव्य की अलौकिकता है। इसी से काव्य को 'लोकोत्तरानन्दप्रद' कहते हैं।

उक्त दस स्थायीभावों से अभिव्यक्त होने वाले रस भी दस हैं। वे क्रमशः ये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वत्सल।

नीचे प्रत्येक रस के—स्थायीभावों आदि का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

शृंगार

स्थायीभाव—रति (प्रेम)।

विभाव—

आलम्बन—नायक, नायिका आदि।

उद्दीपन—चांद, चांदनी रात, वसन्त ऋतु, भ्रमर-रुत आदि।

अनुभाव—प्रेमसूचक चेष्टाएं, स्मित आदि।

सात्विकभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प आदि।

संचारीभाव—लज्जा, उत्सुकता, त्रास, शङ्का, चिन्ता, हर्ष, विषाद आदि।

उदाहरण—शकुन्तला नाटक आदि में शृंगार रस का वर्णन है।

हास्य

स्थायीभाव—हास (हंसी)।

विभाव—

आलम्बन—विदूषक आदि जिसे देख कर हंसी आवे।
उद्दीपन—उस का विकृत वेष, आकार और चेष्टाएं।
अनुभाव—अक्षिसङ्कोच मुख तथा अन्य अङ्गों की चेष्टाएं, मुसकराना, लोटपोट होजाना।
सात्विकभाव—स्वरभंग, कम्प, नेत्रों में हास्याश्रु।
संचारीभाव—आलस्य, चपलता, आवेग, हर्ष इत्यादि।
उदाहरण—नाटकों के विदूषक, अखबारों के चौबे या दूबे, भड़ामसिंह आदि प्रहसन।

करुण

स्थायीभाव—शोक।
विभाव—
आलम्बन—शोच्य, दुःखी, मृतबन्धु आदि।
उद्दीपन—दुःख के कारण, दुःखी की अवस्था, मृतक के रोते हुए बन्धु, शवदाह आदि।
अनुभाव—दैव निन्दा, भूपात, विलाप, क्रन्दन आदि।
सात्विकभाव—विवर्णता, उच्छ्वास, स्तम्भ, अश्रुपात आदि।
संचारीभाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, विषाद, ग्लानि, चिन्ता आदि।
उदाहरण—उत्तर रामचरित में सीता का चरित्र आदि।

रौद्र

स्थायीभाव—क्रोध।
विभाव—
आलम्बन—शत्रु आदि, क्रोध का पात्र।
उद्दीपन—शत्रुकृत अपकार, अपमान, अपराध आदि।

अनुभाव—ओठ चबाना, तर्जना, छाती ठोंकना, कठोर भाषण, शस्त्र-ग्रहण आदि।

सात्विकभाव—कम्प, विवर्णता (मुख और आंखों का लाल होना)।

संचारीभाव—आवेग, मोह, अमर्ष, गर्व, उग्रता, चपलता आदि।

उदाहरण—रामायण में शिवधनुष के टूटने पर परशुराम के क्रोध का वर्णन आदि।

वीर

स्थायीभाव—उत्साह।

विभाव—

आलम्बन—प्रतिद्वन्द्वी राजा, विजेतव्य।

उद्दीपन--विजेतव्य की वृद्धि, युद्ध का आह्वान, ललकारना आदि।

अनुभाव--अङ्गस्फुरण, शस्त्रग्रहण, सहायकान्वेषण आदि।

सात्विकभाव--मुख पर वीरता की झलक (विवर्णता)।

संचारीभाव--धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि।

उदाहरण—लङ्कायुद्ध में राम का वर्णन, महाराणा प्रताप आदि का चरित्र।

वीर रस से केवल युद्धवीर का ही अभिप्राय नहीं। उत्साह-मूलक प्रत्येक उदात्त कर्म इस परिभाषा में आ जाता है। इसके चार भेद किये जाते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर, दयावीर। ऊपर केवल युद्धवीर के ही आलम्बन विभाव आदि दिये गये हैं। दयावीर आदि के भी इसी प्रकार जान लेवें।

वीर और रौद्र रस में यह भेद है कि रौद्र का स्थायीभाव क्रोध है। पर वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है। क्रोध वीरता का लक्षण नहीं।

भयानक

स्थायीभाव—भय।

विभाव—

आलम्बन—भीषण दृश्य या जन्तु, जिसको देख कर भय लगे।

उद्दीपन—उसकी डरावनी शकल, त्रासजनक चेष्टाएं, निर्जन वन, अन्धकार आदि।

अनुभाव—सहम जाना, गला रुकना, भागना, आदि।

सात्विकभाव—स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च, कम्प आदि।

संचारीभाव--आवेग, दीनता, शङ्का, त्रास, मूर्छा, मृत्यु आदि।

उदाहरण--रावण के द्वारा अपहरण के समय सीता की अवस्था। अथवा भूषण वर्णित शिवा जी के भय से यवनराज के त्रास का वर्णन।

बीभत्स

स्थायीभाव—घृणा।

विभाव—

आलम्बन—गंदगी, फोड़ा, ज़ख्म, श्मशान, अघोरी आदि।

उद्दीपन—सड़ांध, दुर्गन्ध, कीड़े पड़ना आदि।

अनुभाव—थूकना, मुंह फेर लेना, नाक के आगे रुमाल देना आदि।

सात्विकभाव—मुख का घृणा द्योतक आकार (विवर्णता) आदि।

संचारीभाव—मोह, अपस्मार, असूया, व्याधि आदि।
उदाहरण—'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में श्मशान का वर्णन या मालती माधव में श्मशान का वर्णन आदि।

अद्भुत

स्थायीभाव—विस्मय।
विभाव—
आलम्बन—अद्भुत वस्तु जिसको देख कर आश्चर्य लगे।
उद्दीपन—उसके गुणों की महिमा, विचित्रता।
अनुभाव—टिकटिकी लगाकर देखना, नेत्र-विकास, वाह २ करना।
सात्विकभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि।
संचारीभाव—वितर्क, आवेग, संभ्रांति, हर्ष आदि।
उदाहरण—राम का बालकपन में धनुष तोड़ना, या 'जयद्रथ वध' के चतुर्थ सर्ग में कृष्ण का अर्जुन को स्वर्ग में ले जाकर भगवान् विष्णु के समक्ष करना आदि।

शान्त

स्थायीभाव—शम। (निर्वेद)
विभाव—
आलम्बन—भगवद्भक्ति, संसार की अनित्यता का विचार।
उद्दीपन—पुण्याश्रम, तीर्थ, महापुरुष संग, उपदेश श्रवण आदि।
अनुभाव—पश्चात्ताप, वैराग्य, भूतदया आदि।
सात्विकभाव--रोमाञ्च आदि।

संचारीभाव—निर्वेद, हर्ष, मति, स्मृति, उत्साह आदि।
उदाहरण—तुलसी, सूर, रसखान, मीराँबाई आदि सद्भक्तों की कविताओं में इसका प्राधान्य है।

वत्सल

स्थायीभाव—स्नेह❀।
विभाव—
आलम्बन—पुत्र, बच्चा आदि।
उद्दीपन—पुत्र की तोतली वाणी, तथा इतर स्नेहमयी चेष्टाएं।
अनुभाव—बच्चे को चूमना, उसको गोद में लेना, उसकी ओर देखना, उसकी बातें सुन २ कर पुलकित और प्रसन्न होना आदि।
सात्विक—रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि।
संचारीभाव—शङ्का, हर्ष, गर्व, आदि।
उदाहरण—सूरदास का कृष्ण-शैशव वर्णन

काव्य के भेद

ऊपर कह आये हैं कि काव्य में व्यञ्जना का अत्यधिक महत्व है। इसी से काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है। अतः व्यञ्जना के आधार पर काव्य के तीन भेद किये जाते हैं।

प्रथम वह जहां व्यंग्यार्थ का प्राधान्य हो। उसे 'ध्वनि' या

❀ वत्सल और शृंगार, रति (प्रेम) और स्नेह का भेद समझ लेना चाहिये। रति विषय-प्रेम को कहते हैं और स्नेह विषय-प्रेम से भिन्न शिशु-प्रेम आदि को कहते हैं।

'उत्तम काव्य' कहते हैं। महाकवियों की उत्कृष्ट कविता में ध्वनि का ही साम्राज्य होता है।

द्वितीय वह जहां व्यंग्यार्थ गौण रूप में हो, अर्थात् वाच्यार्थ के बराबर हो या उस से कुछ दबा हुआ हो। उसे 'गुणीभूत-व्यंग्य' या 'मध्यम काव्य' कहते हैं।

तृतीय वह जहां व्यंग्यार्थ का अभाव हो। उसे 'चित्र काव्य' या 'अधम काव्य' कहते हैं। चित्र काव्य का अर्थ है 'काव्य का चित्र' (असल काव्य नहीं, काव्य की तसवीर)।

रचना के आधार पर काव्य के दो भेद किये जाते हैं। दृश्य और श्रव्य। दृश्य वह है जिसका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके। वह देखा जाता है इसी से उसे दृश्य कहते हैं। उसी को नाटक और रूपक भी कहते हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल, चन्द्रगुप्त, दाहर, कुणाल आदि।

दृश्यकाव्य के कई भेद हैं जिन में प्रेंक्षण (सिनेमा), नाटक, एकाङ्की नाटक, रास, लीला (यथा रामलीला आदि) और प्रहसन आदि प्रसिद्ध हैं।

श्रव्यकाव्य उसे कहते हैं जो पड़ा या सुना जाय। जैसे रामायण, महाभारत, प्रेमाश्रम, जयद्रथवध, तक्षशिला आदि।

इसके भी तीन भेद हैं—पद्य, गद्य और चम्पू। छन्दोबद्ध कविता को पद्य काव्य कहते हैं*। सीधी साधी भाषा में लिखी हुई रचना गद्य कही जाती है और गद्य तथा पद्य दोनों के मिश्रण को चम्पू कहते हैं।

* छन्दों का विशेष निरूपण इस पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट में दिया गया है।

पद्य काव्य, मुक्तक, खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि भेद से कई प्रकार का है। प्रकरण संगति से रहित भिन्न २ विषयों पर पृथक् २ दोहों या छन्दों का संग्रह मुक्तक काव्य है। जैसे 'विहारी सतसई' 'वृन्द सतसई' इत्यादि। एक विषय को लेकर रची हुई छोटी सी कविता को खण्डकाव्य (Lyric) कहते हैं। जैसे जयद्रथवध, पथिक, मिलन, मेघदूत इत्यादि। महाकाव्य उसे कहते हैं जो बहुत बड़ा काव्य हो और जिस में कथावस्तु के साथ ऋतु, शैल आदि का भी रोचक वर्णन हो। जैसे रामायण, कुमारसंभव, रघुवंश, साकेत, प्रियप्रवास इत्यादि।

गद्यकाव्य के भी कई भेद हैं जिन में कथा, आख्यायिका❀, जीवनचरित, उपन्यास, गल्प, पत्रगल्प, अलौकिक कथाएं, पशु-कथाएं आदि मुख्य हैं।

काव्य के गुण

कविता के चमत्कार में उत्कर्ष लाने वाले धर्मों को गुण कहते हैं। ये साधारणतः तीन माने जाते हैं—

माधुर्य, ओज और प्रसाद।

माधुर्य वह है—जिससे रचना में मिठास आये। पढ़ने वाले के चित्त में एक विशेष प्रकार का आह्लाद पैदा हो। इस में पद कोमल होते हैं। प्रायः स्वर लघु होते हैं और ट, ठ, ड, ढ, ष आदि श्रुतिकटु वर्ण नहीं होते। क्लिष्ट, दुरूह और लम्बे समास भी नहीं होते। यह प्रायः शृंगार, करुण और शान्त रस के वर्णन में प्रयुक्त होता है।

❀ कथा और आख्यायिका के भेद हिन्दी साहित्य में नहीं मिलते। इनका स्थान 'उपन्यास' शब्द ने ले लिया है।

ओज वह है—जिससे रचना में जोशीलापन आए । पढ़ने वाले के चित्त में एक विशेष प्रकार का आवेश पैदा हो। शब्दों के प्रभाव से जोश की एक तरङ्ग सी उठ पड़े। इस में भारी भारी पद, ट, ठ, ड, ढ, ष आदि प्रभावित करने वाले वर्णों का आधिक्य, लम्बे २ समास, भाषा का धारा प्रवाह और कुछ तड़क भड़क अधिक रहती है। यह प्रायः युद्ध और क्रोध आदि के वर्णन में अधिक उपयुक्त होता है।

प्रसाद गुण वह है—जिससे रचना में लालित्य आए। जो पढ़ने वाले के चित्त को एक दम मुग्ध सा कर दे । जहां अर्थ सुगम हो और पढ़ते ही समझ में आ जाय। इस में यथाविषय और यथोपयोग सारे ही वर्णों का प्रयोग हो सकता है । महाकवियों की उत्कृष्ट रचनाओं में प्रायः इसका आधिक्य होता है।

काव्य के दोष

जिन से काव्य के चमत्कार का अपकर्ष हो, जो काव्य की चारुता को कम करें, वे दोष कहे जाते हैं। जैसे सुनने में कटु शब्दों का प्रयोग, कोमल भावों के लिये ओजस्वी शब्दों का प्रयोग, व्याकरण या भाषा की अशुद्धि, छन्द के नियमों का भङ्ग, एक बात को या शब्द को बार २ दोहराना (पुनरुक्ति) अश्लीलता, गंवारूपन इत्यादि अनुचित बातों से काव्य का चमत्कार घटता है। इससे ये दोष हैं।

जैसे मधुरभाषण, शौर्य, धैर्य, आदि गुणों से मनुष्य का उत्कर्ष बढ़ता है और क्रूरता, शठता, लालचीपन, गञ्जापन, काणापन, मूकता, बधिरता, पंगुता आदि से उसका अपकर्ष होता है, इसी प्रकार काव्य में गुण-दोषों की व्यवस्था।

काव्य की वृत्तियां या रीतियां

रचनाशैली या पद-योजना (style) को रीति या वृत्ति कहते हैं। अत्युत्तम विचार भी यदि शिथिल शब्दों में प्रगट किये जाएं तो अपना प्रभाव खो बैठते हैं। अतः पदसंगठन की ओर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। शरीर के गठीले अंगों की भान्ति काव्य में सुसंगठित पदों की परम आवश्यकता है। इस पदसौष्ठव या शब्द-संगठन का नाम ही वृत्ति है।

वृत्तियां भी गुणों की भान्ति तीन हैं—

(१) उपनागरिका या वैदर्भी।
(२) परुषा या गौड़ी।
(३) कोमला या पाञ्चाली।

उपनागरिका

माधुर्यगुण-सूचक वर्णों की रचना को उपनागरिका कहते हैं[1]। इस में समास नहीं होते, या छोटे छोटे होते हैं। ट, ठ, ड, ढ, ष आदि श्रुति-कटु वर्ण नहीं रखे जाते। अनुस्वार और ध्वनि-साम्य का विशेष विचार रखा जाता है। जैसे—

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन-अमिय दृग-दोष-विभंजन॥

परुषा

ओजगुण-व्यञ्जक वर्णों की रचना में परुषा वृत्ति होती है। इस में ट, ठ, ड, ढ, ष आदि तथा द्ध, ह्ल, त्थ,

---

१ मधुर वचन जा में बसें उपनागरिका जान। (भाषा भूषण)

आदि द्वित्व वर्णों का आधिक्य होता है। समास भी बड़े बड़े होते हैं*। रचना क्लिष्ट और परुष सी होती है। जैसे—

उलटि वृच्छ[1] फल भच्छि[2] हनि[3] रच्छक रच्छस[4] लक्ख।
कटकटाय मर्कट-मुकुट, झट पटक्कयु[5], भट अक्ख[6]॥

कोमला

इस में य, र, ल, व, स, ह आदि कोमल वर्णों का प्रायः प्रयोग होता है। पद छोटे छोटे और सुबोध होते हैं। समास या तो होते ही नहीं, यदि हों तो छोटे छोटे होते हैं†। जैसे—

सहज सनेह राम लखि[7] तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू[8]।

काव्य के अलङ्कार

अलङ्कार शब्द का अर्थ है सौन्दर्य[9], सजावट या आभूषण। प्रत्यय भेद से इस का अर्थ होजाता है—सौन्दर्य के साधन[10], सजावट का सामान। अतः काव्य में शोभा और सौन्दर्य लाने वाले साधनों को अलङ्कार कहते हैं[11]। जिन बातों से कविता में

---

* दूजे परुषा कहत सब जा में बहुत समास। (भा० भू०)

१ वृत्त। २ खाकर। ३ मारकर। ४ राक्षस। ५ पटक दिया। ६ अक्षयकुमार (रावण का पुत्र)।

† बिन समास हू मधुरता कहैं कोमलोल्लास। (भा० भू०)

७ देखकर। ८ प्रसन्न।

९ सौंदर्यमलङ्कारः। (वामन)

१० अलंक्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः,—'अलंकृतिरलङ्कारः।

११ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते। (दण्डी)

सुन्दरता, चारुता, रोचकता, मनोरञ्जकता और चमत्कार उत्पन्न हो उन्हें अलङ्कार कहते हैं। सुन्दरता के साथ ही अलङ्कारों से रचना में कुछ चातुरी और उक्ति-वैचित्र्य का भी पुट लग जाता है। अलङ्कार एक प्रकार से काव्य-कला के पालिश हैं।

वस्तुतः काव्य में चमत्कार का मूल अलङ्कार ही हैं। अलङ्कारों के विना भाषा या विचारों में कोई चमत्कार नहीं आ सकता। जैसे कोई कहे—

'अमुक राजा बड़ा दानी है'।

अब इस वाक्य में न कोई सौन्दर्य है और न चमत्कार। यह सीधा साधा वाक्य चमत्कारहीन होने से काव्य नहीं कहा सकता। इसी भाव को अलंकृत करके कहें, तो सौन्दर्य, चातुरी और चमत्कार स्वयमेव आजाएंगे। जैसे—

'यह राजा तो दान में कर्ण के समान है'। (उपमा)

'यह तो मानों कर्ण का अवतार है'। (उत्प्रेक्षा)

'यह तो दान की गंगा बहा रहा है'। (रूपक)

'इस जितना दानी यही है'। (अनन्वय)

'यह राजा तो विद्वान् ब्राह्मणों को उनकी चिरसंगिनी सहचारिणी प्रिया (दरिद्रता) से वियुक्त करके उन को विरह-व्यथा-व्यथित बना देता है'। (व्याजस्तुति)

सभी स्वीकार करेंगे कि इन अलंकृत उक्तियों में चमत्कार और सौन्दर्य की अधिकता है। चातुरी का पुट भी है। इस से सिद्ध है कि चमत्कार का मूल अलङ्कार ही हैं। अत एव हमारे पुराने आचार्यों ने अलङ्कारों को ही काव्य का प्राण

माना है और अलङ्कारों के विषय पर ही सब से अधिक लेखिनी उठाई है।

साधारण शब्द और अर्थ तो सभी रचनाओं में होते हैं। पर काव्यत्व तो अलंकृत शब्दों और अलंकृत अर्थों के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः प्राचीन आचार्य काव्य का लक्षण ही 'अलंकृत शब्दार्थ'[१] करते हैं। उनका कथन है कि काव्य का ग्रहण ही अलङ्कारों से होता है[२]। काव्य में अलङ्कारों का ही प्राधान्य है[३]। अलङ्कारों के बिना काव्य को काव्य मानना ऐसा है, जैसे उष्णता के बिना आग को आग मानना[४]। अर्थात् जैसे उष्णता के बिना आग, आग नहीं कोयला है, इसी प्रकार अलङ्कारों के बिना काव्य, काव्य नहीं, साधारण रचना है[५]।

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यं निर्दोषं सालङ्कारं च। (भामह)

२ काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। (वामन)

३ अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्। (रुय्यक)

४ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलंकृती। (जयदेव)

५ मध्यकाल और वर्तमान के भी कई विद्वान् अलङ्कारों को आभूषणों या गहनों का दरजा देते हैं और इन्हें काव्य के 'अस्थिर धर्म' मानते हैं। उनका कथन है कि अलङ्कारों के बिना भी काव्य रमणीय हो सकता है, वे काव्य-पुरुष का रूपक इस प्रकार बनाते हैं— काव्यरूपी पुरुष का आत्मा रस (या ध्वनि ?) है, शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं, गुण शौर्य आदि की तरह हैं, दोष काणत्व आदि की भान्ति हैं, रीतियां अङ्गसंस्थानवत् हैं और अलङ्कार कटक, कुण्डल, हार

अलङ्कारों के भेद

अलङ्कार तीन प्रकार के हैं—शब्दालङ्कार,—अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। जिन से केवल शब्दों में लालित्य और चमत्कार आये, वे शब्दालङ्कार कहे जाते हैं और जिन से केवल अर्थ में

आदि की भान्ति हैं'।

सूक्ष्म विवेचना और विज्ञान के प्रकाश में यह रूपक निराधार निःसार कृत्रिम और कपोलकल्पित प्रतीत होता है। प्रथम रस काव्य का आत्मा या लक्षण नहीं हो सकता। रस—आनन्द—काव्य का ध्येय है, स्वरूप नहीं। दूसरा पारिभाषिक रस नाटक का विषय है। उसे काव्य पर बलात्कार से आरोपित किया गया है यह अनुभव की बात है कि स्थायीभाव आदि के लम्बे चौड़े जंजाल का प्रत्येक छंद और कविता में होना असम्भव है। सैकड़ों पद्य ऐसे मिलेंगे जो अपने अनूठे भाव और चातुरी के कारण विलक्षण चमत्कार रखते हैं, पर उनमें स्थायीभावों आदि का अन्वेषण करना असम्भव है। अतः 'रसयुक्त रचना ही काव्य है', यह कहना दुरूह काव्य-परिभाषा को दुरूहतर बनाना है जिस से पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ सकता।

गुणों को इस रूपक में 'आत्मा' का धर्म कहा गया है। पर गुणों के लक्षण और विवेचन से वे शरीर—शब्दार्थ—के ही धर्म ठहरते हैं। आखिर गुण वर्णों के चुनाव, शब्दगुम्फन और समास आदि व्याकरण के नियमों का पालनमात्र ही तो है। तो वर्ण, शब्द, समास, ये सब शब्दार्थ रूपी शरीर के ही धर्म हैं। इन का आत्मा से क्या सम्बन्ध ? इसी प्रकार रीतियां भी अङ्ग-संगठन—शरीर—से ही सम्बन्ध रखती हैं। गुण और रीतियां वस्तुतः वर्णों की सुव्यवस्था और व्याकरण तथा ध्वनि

चमत्कार और चातुरी का पुट लगे वे अर्थालङ्कार हैं। जहां कहीं ये दोनों ही विद्यमान हों उन्हें उभयालङ्कार—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के अलङ्कार कहते हैं।

शब्दालङ्कार तीन प्रकार के हैं—

(१) आवृत्तिमूलक।

(२) श्लेष मूलक।

(३) चित्रमूलक।

के नियमों से नियंत्रित पदयोजना और शब्दगुम्फन की एक शलीमात्र (Style) हैं। इन का सम्बन्ध आत्मा से कुछ नहीं। ये वस्तुतः एक प्रकार के शब्दालङ्कार ही हैं।

अलङ्कारों को इस रूपक में वाह्य—शरीर से अलग—उतारे जा सकने वाले, कटक कुण्डल आदि से सादृश्य दिया है। यह भी अलङ्कारों के सूक्ष्म मर्म को न समझने के कारण से है। वस्तुतः अलङ्कार बाहरी वेष-भूषा के गहने नहीं। ये व्यक्तिगत—शरीरगत—सौन्दर्य के स्थानापन्न कहे जा सकते हैं। शारीरिक सौन्दर्य शरीर से पृथक् नहीं हो सकता। एवं अलङ्कार भी भाषा से पृथक् नहीं किये जा सकते। ये कायिक कमनीयता के उपकरण हैं। ये वह खाद्य पौष्टिक भोजन हैं, जिन से शरीर स्वस्थ और प्राकृत रूप में सुन्दर बनता है। ये वह पालिश हैं जिस से एक प्रस्तर-स्तम्भ, 'कला के कार्य' का नाम प्राप्त करता है और जो उसी का अङ्ग होकर उस की रमणीयता, सौन्दर्य और चिरायुता का कारण बनता है।

हम तो यहां तक कहेंगे कि अलङ्कार भाषा के ही अङ्ग हैं। इन्हें भाषा से पृथक् नहीं किया जा सकता। बिना अलङ्कार के न भाव प्रगट

जिन में वर्णों, पदों या शब्दों की आवृत्ति होती है, वे आवृत्तिमूलक हैं। जैसे अनुप्रास (वर्णावृत्ति) यमक (पदावृत्ति) लाटानुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, वीप्सा (शब्दावृत्ति) आदि।

जो श्लेष पर आश्रित हैं उन्हें श्लेषमूलक कहते हैं, जैसे सभङ्ग श्लेष, अभङ्ग श्लेष, वक्रोक्ति इत्यादि।

किया जा सकता है, और भाषा बन सकती है। मान लो आप को दर्द हो रहा है और आप डाक्टर के पास जाते हैं। डाक्टर आप से पूछता है कैसा दर्द है। अब आप उसको क्या बताएंगे। आप के भावों को प्रगट करने वाली सीधी भाषा आप को नहीं मिलेगी। उस समय अलङ्कार आप की सहायता करेंगे—आप उनका आश्रय लेकर झट कह देंगे—'श्रीमान् जी, ऐसा दर्द है जैसे किसी ने आग का अङ्गारा रख दिया हो'। या 'अमुक अङ्ग में सूइयां सी चुभोई जा रही हैं'। या 'सांप की तरह सर-सर हो रहा है'। इत्यादि। ये क्या हैं—ये सभी अलङ्कार हैं। क्या इन्हें कटक आदि की भान्ति पृथक् और अस्थिर धर्म मानें या भाव-प्रकाशन के लिये अनिवार्यरूप से अपेक्षित भाषा का एक अङ्ग ?

वास्तव में मानवी सभ्यता के प्रारम्भ से ही—और अब भी—उपमा, रूपक, आदि अलङ्कारों का भाव-प्रकाशन और भाषा-निर्माण में अधिक भाग रहा है, यह बात प्रत्येक भाषा-विज्ञान का वेत्ता स्वीकार करता है। वेदों और उपनिषदों में जिन इन्द्रियातीत सूक्ष्म और गहन विषयों का प्रतिपादन किया गया है वह बिना अलङ्कारों के हो ही नहीं सकता। भाषा में भी—निष्णात, पारङ्गत, शिरोमणि, चूड़ामणि, प्रवीण, कुशल, तिलाञ्जलि आदि सहस्रों शब्द और मुहाविरे इन्हीं अलङ्कारों के कारण से हैं। इस से स्पष्ट है कि अलङ्कार भाषा के

चित्रमूलक वे हैं जिन में केवल वर्णों या शब्दों की ही विचित्रता हो। भाषासम या भाषा संकर तथा कमलबन्ध, मुरज-बन्ध, खड्गबन्ध आदि इस के अनेक भेद हैं। प्रहेलिका, दृष्टकूट आदि को भी इन्हीं में गिना जाता है।

अङ्ग हैं। अतएव ये काव्य-शरीर के अवयव हैं—वाह्य आभूषण नहीं।

कोई सुकवि—चाहे वह अलङ्कारों को जानता हो या न जानता हो—एक पंक्ति भी ऐसी नहीं लिख सकता जिस में चारुता और रमणीयता तो हो, पर उसमें कोई अलङ्कार न हो। अनलंकृत चारु रचना का उदाहरण आज तक नहीं मिला, न मिल सकता है।

ग्रामीण लोग भी जो अलङ्कारों के ज्ञान की क्षमता नहीं रखते—अपनी नित्य की भाषा में अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं—'यह साहूकार जोंक की तरह हमारा खून चूस रहा है'। 'उसने तुम्हें फंसाने के लिये बातों का जाल फैलाया है'। 'तेरा बेड़ा गरक़ हो'। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। ये सब अलङ्कार ही तो हैं। और जब ये अशिक्षित और ग्रामीणों के द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं, तो मानना होगा कि अलङ्कार भाषा का स्वाभाविक अङ्ग हैं। वे भाषा से पृथक् नहीं किये जा सकते। उनके बिना भाषा बन ही नहीं सकती। वे अस्थिरधर्म नहीं, अपितु भाषा के कलेवर का ही हिस्सा हैं।

कुछ महानुभाव अलङ्कारों से इस लिये घृणा करते हैं कि ये कवि कि स्वच्छन्द प्रतिभा को बन्धन में जकड़ देते हैं। पर सूक्ष्म विचार करने पर यह बात भी ठीक प्रतीत नहीं होती। अलङ्कार तो कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्द उडार और सर्वतोमुखी गति की आड़े समय में सहायता करते हैं। जब भावों का वेग इस तेज़ी से चलता है कि

अर्थालङ्कार पांच प्रकार के हैं—

१—सादृश्यमूलक—जो सादृश्य या समानता पर अवलम्बित हों। जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, भ्रान्तिमान् आदि।

२—विरोधमूलक—जो लोक-विरोध या कार्य-कारण-विरोध आदि पर आश्रित हों। जैसे विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति आदि।

३—न्यायमूलक—जो किसी लोकन्याय, शास्त्रन्याय या काव्यन्याय पर अवलम्बित हों। जैसे काव्यलिङ्ग, अनुमान, परिसंख्या, अर्थापत्ति, प्रतीप, मीलित, तद्गुण आदि।

भाषा साथ नहीं दे सकती—शब्द भाव-प्रकाशन में अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए परे हट जाते हैं—तो उस समय अलंकार ही उसकी सहायता को आते हैं—अलंकारों के द्वारा ही कवि अपने सूक्ष्म, गहन और अमूर्त विचारों को प्रगट करने में समर्थ होता है। जो लोग अलंकारों को 'प्रतिभा का प्रतिबन्ध' कह कर हेय बतलाते हैं उनकी अपनी कृतियों में जो कुछ चमत्कार, भावव्यञ्जन और उत्कर्ष है उसके मूल कारण अलंकार ही हैं। छायावाद, रहस्यवाद और प्रियावाद (?) तो अलंकारों के बिना एक पग भर नहीं चल सकते।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी अलंकार अत्यन्त प्राचीन हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में अलंकार भरे पड़े हैं। उपमा के लक्षण और भेद यास्क ने किये हैं। उसने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य 'गार्ग्य' के नाम से उद्धृत किये हैं। उपमा और उपमान आदि शब्द भाषा का भाग बन चुके थे, यह बात पाणिनि के सूत्रों से भी प्रगट होती है (उपमानादाचारे इत्यादि)। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण आदि जितने भी काव्य के लक्षण किये जाते हैं, वे सब अर्वाचीन हैं। पुराने साहित्य में ये शब्द नहीं मिलते। इस से स्पष्ट है

४—शृंखलाबन्धमूलक—जो कार्य-कारण की शृंखला पर आश्रित हों। जैसे एकावली, कारणमाला, सार आदि।

५—गूढार्थप्रतीतिमूलक—जो किसी गूढ अर्थ की प्रतीति कराएं। जैसे वक्रोक्ति (अर्थ) स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति आदि।

उभयालङ्कार दो प्रकार के हैं—

संसृष्टि और संकर। (इन के लक्षण आगे देखें)

हिन्दी के मुख्य २ अलङ्कारों के विशेष लक्षण और उदाहरण इस ग्रन्थ के अगले पृष्ठों में दिये जाते हैं।

कि अलंकार अत्यन्त प्राचीन काल से ही भाषा और काव्य के सौन्दर्य-जनक धर्म माने जाते रहे हैं। प्राचीन आचार्यों ने तो इस शास्त्र का नाम ही 'अलंकार शास्त्र' या 'काव्यालंकार शास्त्र' रखा था।

वस्तुतः रीति गुण आदि का क्षेत्र तो शब्द-विन्यास तक ही परिमित है। ध्वनि और वक्रोक्ति अलंकारों के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। रस—आस्वाद, आनन्द—काव्य का ध्येय हैं, स्वरूप नहीं। अतः काव्य का लक्षण और काव्य के चमत्कार के प्रधान आधार अलंकार ही माने जाने चाहिये। यह प्राचीन आचार्यों का मत ही वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक जंचता है। मध्यकाल के आचार्यों ने अलंकारों की महिमा को कुछ घटा दिया है, और वर्तमान के विद्वान् इनसे वैसे ही उपराम हैं। पर हर्ष का विषय है कि अब हिन्दी में भी विवेचना-शील साहित्य-मीमांसकों का एक ऐसा वर्ग पैदा हो रहा है जो प्राचीन अलंकार पक्ष का समर्थन करता है। ज्यों ज्यों भाषा-शास्त्र के वैज्ञानिक तत्त्वों पर साहित्य-शास्त्र का विवेचन होगा, त्यों त्यों अलंकारों की महिमा अधिकाधिक बढ़ती जायगी और काव्य-पुरुष के उक्त रूपक कृत्रिम और निराधार सिद्ध होकर हेय माने जाएंगे।

अलङ्कार-प्रवेशिका

अलङ्कार-निरूपण

जहां वाक्य वर्णन करै चमत्कार के संग।
अलंकार तासों कहत, जे जानत सब अंग॥

अलङ्कार तीन प्रकार के हैं--

१ शब्दालङ्कार।

२ अर्थालङ्कार।

३ उभयालङ्कार या मिश्रित अलङ्कार।

शब्दालङ्कार

जहां चमत्कार का आधार केवल शब्द हों, वह शब्दालङ्कार होता है। 'चमत्कार का आधार' कहने का अभिप्राय यह है कि यदि वह शब्द बदल कर उसके स्थान पर उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द रख दें, तो अलङ्कार नष्ट हो जायगा। जैसे—

सेस, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।*

इस में 'स' वर्ण की आवृत्ति बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है। इसलिये कह सकते हैं कि यहां सुन्दरता का आधार 'स' वर्ण है। अतः चमत्कार शब्द-गत होने से यहां शब्दालङ्कार हुआ। इसी को यदि यों बदल कर पढ़ें--

नाग, गजानन, ईश, प्रभाकर, इन्द्रहु जाहि निरन्तर गावै।*

* शेषनाग, गणेश, शिव, सूर्य और इन्द्र जिसको नित्य गाते हैं।

तो अर्थ तो वही रहेगा । छन्द भी वही है। पर पहले पाठ में जो 'स' की सुन्दरता का चमत्कार है, वह नष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जहां शब्द के परिवर्तन से अलङ्कार नष्ट हो जाय और शब्द के रहने तक ही अलङ्कार रहे, वहां शब्दालङ्कार होता है।

अर्थालङ्कार

जहां चमत्कार का आधार अर्थ हो, वहां अर्थालङ्कार होता है। इसका अभिप्राय यह है कि अर्थालङ्कार में शब्द बदल देने पर भी चमत्कार का नाश नहीं होता। जैसे—

नील कमल सी मुख-प्रभा, सरस सुधा से बोल ॥

यहां 'कमल' के स्थान पर जलज, पङ्कज या पद्म आदि कोई पर्यायवाची शब्द रख दें, तो भी उपमा में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार 'सुधा' के स्थान पर 'अमृत' कर देने से भी उपमा वैसी की वैसी बनी रहती है। इससे इसको अर्थालङ्कार कहते हैं।*

उभयालङ्कार या मिश्रित अलङ्कार

जहां शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों का मिश्रण हो, या जहां एक से अधिक अलङ्कार हों वहां उभयालङ्कार माना जाता है। जैसे—'सरस सुधा से बोल' इसमें अनुप्रास और उपमा दोनों विद्यमान हैं।

---

* इनका संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार याद रखना चाहिये—
शब्द-परिवर्तन को जो सह ले वह अर्थालङ्कार और जो शब्द-परिवर्तन को न सहे वह शब्दालङ्कार होता है।

शब्दालङ्कार

शब्दालङ्कारों में सात अलङ्कार मुख्य हैं—

(आवृत्ति-मूलक)	(श्लेष-मूलक)	(चित्र-मूलक)
१ अनुप्रास।	५ श्लेष।	७ भाषा संकर।
२ लाटानुप्रास।	६ वक्रोक्ति।	
३ यमक।		
४ पुनरुक्तवदाभास।		

अनुप्रास

वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं[1]।

किसी वर्ण का एक से अधिक बार आना 'आवृत्ति' है।

जैसे—'काले कलूटे कौए काँय काँय कर रहे हैं'।

इस वाक्य में 'क' वर्ण ६ बार आया है। इससे यहां 'क' की ६ बार आवृत्ति हुई है।

वर्ण कहने से स्वर और व्यञ्जन दोनों का ग्रहण होता है॥। पर व्यञ्जनों की आवृत्ति में यह आवश्यक नहीं कि उनसे जुड़े हुए स्वर भी बराबर मिलें।

उदाहरण

मुदित महीपति मंदिर आये।
सेवक सचिव सुमंत्र बुलाये॥

इस चौपाई के पूर्वार्ध में 'म' की और उत्तरार्ध में 'स' की

---

१ स्वर कौ सम्मेलन जहां चाहे होय न होय।
व्यञ्जन की समता मिले अनुप्रास है सोय॥ (सा० सागर)

॥ केवल स्वरों की आवृत्ति में विशेष सौन्दर्य या चमत्कार न होने से कई आचार्य 'वर्ण' का अर्थ केवल व्यञ्जन ही लेते हैं। पर पुराने कई आचार्य स्वरावृत्ति को भी अनुप्रास का कारण मानते हैं।

तीन तीन बार आवृत्ति हुई है, पर इन में स्वरों का मेल नहीं है। कहीं कहीं स्वर भी मिल जाते हैं। यथा—

सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी।

इस में 'स' की पांच बार आवृत्ति है, पर स्वरों का मेल केवल 'सुख', 'सुजस' और 'सुलभ' में तीन ही बार हुआ है।

अनुप्रास के भेद

अनुप्रास के चार भेद हैं—

१—छेकानुप्रास। ३—श्रुत्यनुप्रास।
२—वृत्त्यनुप्रास। ४—अन्त्यानुप्रास।

छेकानुप्रास

जहां एक वर्ण या अनेक वर्ण केवल दो बार आएं, वहां छेकानुप्रास होता है❀।

वर्णों की आवृत्ति प्रायः शब्दों के आदि में या अन्त में होती है। इस प्रकार छेकानुप्रास के चार भेद हो जाते हैं—

१—एक वर्ण की शब्दों के आदि में आवृत्ति।
२—अनेक वर्णों की शब्दों के आदि में आवृत्ति।
३—एक वर्ण की शब्दों के अन्त में आवृत्ति।
४—अनेक वर्णों की शब्दों के अन्त में आवृत्ति।

उदाहरण

(१) एक वर्ण आदि में—

(१) प्रिया प्राण सुत सर्वस मोरे।

❀ वर्ण अनेक कि एक की आवृति एकै बार।
सो छेकानुप्रास है आदि अन्त निरधार॥ (अ० मंजूषा)

यहां 'प्रिया' और 'प्राण' में 'प' की तथा 'सुत' और 'सर्वस' में 'स' की एक २ बार आवृत्ति है और वह शब्दों के आदि में है। इससे यहां प्रथम छेकानुप्रास है।

(२) बचन बिनीत मधुर रघुवर के।

यहां 'बचन' और 'बिनीत' के आदि में एक वर्ण 'ब' की आवृत्ति है।

(३) हो जाता मन मुग्ध भक्ति भावों से मेरा।

इस में 'मन' और 'मुग्ध' में 'म' तथा 'भक्ति' और 'भावों' में 'भ' की एक २ बार शब्दों के आदि में आवृत्ति है। अतः यहां भी प्रथम छेकानुप्रास है।

(२) अनेक वर्ण आदि में—

(१) विविध सरोज सरोवर फूले।

यहां 'सरोज' और 'सरोवर' शब्दों के आदि में 'स' और 'र' दो वर्णों की आवृत्ति है।

(२) रसवती रसना करके कहीं।
कथित थी कथनीय गुणावली।

इस में 'रसवती' और 'रसना' में 'र' और 'स' दो वर्णों की; तथा 'कथित' और 'कथनीय' में 'क' और 'थ' की एक २ बार शब्दों के आदि में आवृत्ति हुई है। अतः यहां भी द्वितीय छेकानुप्रास है।

(३) एक वर्ण अन्त में—

(१) रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो।

यहां 'रोग' और 'सोग' शब्दों के अन्त में एक वर्ण 'ग' की एक बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां तृतीय छेकानुप्रास है।

(१) तौं अलबैली अकेली डरै।

यहां 'अलबैली' और 'अकेली' के अन्त में 'ल' की एक ही बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां तृतीय छेकानुप्रास है।

(३) लौटे धनञ्जय विजय का आनन्द उर में धार के।

यहां 'उर' और 'धार' में शब्दों के अन्त में एक 'र' वर्ण की आवृत्ति है।

(४) अनेक वर्ण अन्त में--

(१) वंजुल मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन बिसर से।

यहां 'जुल' और 'ज्जित' आदि अनेक वर्णों की शब्दों के अन्त में एक २ बार आवृत्ति है। इस से यहां चतुर्थ प्रकार का छेकानुप्रास है।

(२) जन-रंजन भंजन-दनुज मनुज-रूप सुर भूप।

यहां 'जन' और 'नुज' की शब्दों के अन्त में एक २ बार आवृत्ति है। इस से यहां भी चतुर्थ छेकानुप्रास है।

छेकानुप्रास का विशेष उदाहरण

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी इन्द्र धनुष रँग होति॥

यहां 'परत' और 'पट' में प्रथम, 'बांस और बांसुरी' में द्वितीय, 'ओठ' और 'दीठ' में तृतीय और 'धरत' और 'परत' में चतुर्थ प्रकार का छेकानुप्रास है।

इस दोहे का भावार्थ यह है—

कृष्ण के अधरों पर धरी हुई सबज़ रंग के बांस की बांसुरी पर जब ओठों के (लाल), आंखों के (नीले) और कृष्ण के पीताम्बर के (पीले) रंग की झलक पड़ती है तो ये सब रंग (सबज़, लाल, नीला और पीला) मिल कर बांसुरी को इन्द्र-धनुष का रंग दे देते हैं।

वृत्त्यनुप्रास

जहां एक या अनेक वर्णों की आवृत्ति कई बार हो, वहां वृत्त्यनुप्रास होता है*।

यहां भी पूर्ववत् आवृत्ति के भेद से वृत्त्यनुप्रास के चार भेद हो जाते हैं—

(१) एक वर्ण की शब्दों के आदि में आवृत्ति।

(२) अनेक वर्णों की शब्दों के आदि में आवृत्ति।

(३) एक वर्ण की शब्दों के अन्त में आवृत्ति।

(४) अनेक वर्णों की शब्दों के अन्त में आवृति।

नोट—छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास में यह भेद है कि छेक में वर्णों की केवल एक बार आवृत्ति होती है—अर्थात् समान वर्ण केवल दो बार आते हैं। पर वृत्त्यनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति बहुत बार होती है।

---

* वर्ण अनेक कि एक की जहँ सरि कैयो बार।
सो है वृत्त्यनुप्रास जो परै वृत्ति-अनुसार॥
(अ० मंजूषा)

उदाहरण

(१) एक वर्ण आदि में—

(१) मुदित महीपति मन्दिर आये ।
सेवक सचिव सुमंत्र बुलाये ॥

इस में पूर्वार्ध में 'म' की तीन बार आवृत्ति हुई है, और दोनों ही बार 'म' 'मुदित' 'महीपति' और 'मन्दिर' शब्दों के आदि में आया है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में 'स' की भी शब्दों के आदि में तीन बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां प्रथम वृत्त्यनुप्रास है।

(२) सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी।

यहां शब्दों के आदि में 'स' की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां प्रथम वृत्त्यनुप्रास है ।

(२) अनेक वर्ण आदि में—

(१) चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार ।

इस में 'च' और 'क' की शब्दों के आदि में कई बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां द्वितीय वृत्त्यनुप्रास है।

(२) धरम धुरन्धर धीर धरि, नयन उघारे राउ ।

यहां 'ध' और 'र' वर्णों की शब्दों के आदि में अनेक बार आवृत्ति है । इस से यहां द्वितीय वृत्त्यनुप्रास है।

(३) एक वर्ण अन्त में—

(१)गज खाल कपाल की मालबिसाल सो गाल बजावत आवत हैं।

यहां 'ल' की शब्दों के अन्त में कई बार आवृत्ति हुई है। इस से यहां तृतीय वृत्त्यनुप्रास है।

(२) सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावे।

यहां शब्दों के अन्त में 'स' की कई बार आवृत्ति हुई है। इससे यहां भी तृतीय वृत्त्यनुप्रास है।

(४) अनेक वर्ण अन्त में—

(१) माखन चाखन हारो सो राखन हारो।

यहां 'ख़' और 'न' की शब्दों के अन्त में कई बार आवृत्ति है। इस से यहां चतुर्थ वृत्त्यनुप्रास है।

(२) मुंड कटत कहुँ रुंड नटत, कहुँ सुंड पटत घन।

गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन॥

यहां पूर्वार्ध में 'ट' और 'त' और उत्तरार्ध में 'स' और 'त' वर्णों की शब्दों के अन्त में कई बार आवृत्ति है। इससे यहां चतुर्थ वृत्त्यनुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास

जहां बहुत से ऐसे वर्णों का प्रयोग मिले जिनका उच्चारण-स्थान एक है, तो वहां श्रुत्यनुप्रास होता है।*

---

* जे कण्ठादिक स्थान तें निकसे वर्ण प्रकास।

तिनकी जहँ समता मिलै सोई श्रुति-अनुप्रास॥

(बिहारी)

श्रुत्यनुप्रास में एक ही वर्ण की आवृत्ति न होकर एक स्थानी वर्णों की समता मिलती है।

वर्णों के उच्चारण स्थान इस प्रकार हैं—

उच्चारण स्थान	वर्ण
कण्ठ	अ आ क ख ग घ ङ ह और विसर्ग
तालु	इ ई च छ ज झ ञ य श
मूर्धा	ऋ ॠ ट ठ ड ढ ण र ष
दन्त	ऌ त थ द ध न ल स
ओष्ठ	उ ऊ प फ ब भ म
नासिका	ङ ञ ण न म और अनुस्वार
कण्ठ-तालु	ए ऐ
कण्ठ-ओष्ठ	ओ औ
दन्त-ओष्ठ	व

उदाहरण

(१) मति भारति पंगु भई जो निहारि
बिचारी फिरी उपमा न पवै ॥

यहां ओष्ठ स्थान वाले अनेक वर्णों का अधिकता से

प्रयोग है। यथा—म, भ, प, भ, ब, फ, प, म, प, ब। इससे यहां श्रुत्यनुप्रास है।

(२) तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।

यहां पर दन्त्य वर्णों का आधिक्य है यथा--त, ल, स, द, स, स, द, त, न, स, द, न, द, त, त, न आदि वर्ण दन्त स्थान से बोले जाते हैं। इससे यहां श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास

जहां पद्य के चरणों के अन्तिम व्यञ्जन और उनसे मिले हुए स्वर और अनुस्वार आदि ठीक समानता में मिलें, वहां अन्त्यानुप्रास होता है*।

उदाहरण

है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल-छद्म में।
पाण्डित्य पर-निन्दा विषय में, शूरता है सद्म में॥
बस मौन में गम्भीरता है, है बड़प्पन वेश में।
जो बात और कहीं नहीं वह, है हमारे देश में॥

यहां पूर्वार्ध में 'छद्म में' और 'सद्म में' तथा उत्तरार्ध में 'वेश में' और 'देश में' अन्त्यानुप्रास है।

यह कई प्रकार का होता है और इस के कई नियम हैं जिन का सीधा सम्बन्ध छन्दःशास्त्र से है। इसे ही तुक भी कहते हैं।

---

* जहँ व्यञ्जन स्वर के सहित एकहि सम दरसाहि।
सो अन्त्यानुप्रास है अरु तुकान्त्य कह ताहि॥ (बिहारी)

कहीं कहीं पदान्त में भी यह अनुप्रास होता है—

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने की।
जैसी मिलती जुलती उच्चाशा है भली, मुझे मिलने की॥

यहां 'कैसी' 'जैसी' में, 'हिलती' 'मिलती' में 'डुलती' 'जुलती' में, 'अभिलाषा' 'उच्चाशा' में, 'कली' 'भली' में, 'तुझे' 'मुझे' में, तथा 'खिलने' 'मिलने' में सर्वत्र स्वर सहित व्यञ्जनों की आवृत्ति है। यह भी अन्त्यानुप्रास है।

लाटानुप्रास

जहां एक शब्द या वाक्यखंड की उसी अर्थ में आवृत्ति हो पर तात्पर्य या अन्वय में भेद हो, वहां लाटानुप्रास होता है*।

लाटानुप्रास में एक ही शब्द या वाक्य खण्ड दोहराया जाता है। दोनों बार उसका अर्थ भी एक ही रहता है। केवल अन्वय या तात्पर्य में भेद होता है।

उदाहरण

शब्दावृत्ति—

(१) देखि दसा रघुपति जिय जाना।
हठ राखै राखै नहिं प्राना।

यहां 'राखै राखै' दो बार आया है। दोनों बार अर्थ एक ही है, पर अन्वय में भेद है। पहला राखै पद हठ के साथ और दूसरा प्राण के साथ अन्वित है। इस से यहां लाटानुप्रास है।

---

* शब्द अर्थ आवृत्ति कौ होय एक सम भास।
तात्पर्य दूजो रहै सो लाटानुप्रास॥ (बिहारी०)

(२) वही है मनुष्य मनुष्य के लिये जो मरे ।

इस में मनुष्य शब्द दोहराया गया है। दोनों बार मनुष्य का अर्थ 'आदमी' ही है। पर अन्वय इस प्रकार है कि 'जो मनुष्य के लिये मरे, वही मनुष्य है'। इस से पहला मनुष्य कर्ता है और दूसरा मनुष्य सम्प्रदान है। इस से यहां लाटानुप्रास हुआ* ।

वाक्य की आवृत्ति—

वे घर हैं वन ही सदा, जहँ है बन्धु-वियोग ।
वे घर हैं वन ही सदा, जहँ नहिं बन्धु-वियोग ॥

यहां 'वे घर हैं वन ही सदा' यह वाक्य दो बार आया है। इन शब्दों के अर्थ दोनों बार एक ही हैं, पर अन्वय में भेद है। पहले का अन्वय है—'वे घर सदा वन हैं'। दूसरे का अन्वय है 'वे वन सदा घर हैं'। इससे यहां पर लाटानुप्रास है।

तात्पर्य भेद—

आत्मज्ञान जब भयो, नहिँ ज्ञान-ग्रंथ से काम ।
नात्मज्ञान जब भयौ, नहिँ ज्ञान-ग्रंथ से काम ॥

यहां पर 'नहिं ज्ञान-ग्रन्थ से काम' दो बार आया है। दोनों बार अर्थ एक ही है, अन्वय भी एक ही है। पर यहां तात्पर्य में भेद

---

*कई लेखक व्यवहित आवृत्ति में भी लाटानुप्रास मानते हैं--

'वीरस्नुषा, तुम वीर-रमणी, वीर-गर्भा हो तथा'

यहां 'वीर' शब्द एक ही अर्थ में अन्य शब्दों के व्यवधान से तीन बार आया है, पर तीनों बार इस का अन्वय पृथक् है। इस से यह भी लाटानुप्रास माना जाता है।

है। जब आत्मज्ञान हो गया तो ज्ञान-ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं और जब आत्मज्ञान ही नहीं, तो ज्ञान-ग्रन्थों का उपयोग ही कुछ नहीं। इस प्रकार अन्वय एक होने पर भी यहां तात्पर्य में भेद है। इस से यहां लाटानुप्रास है।

यमक

जहां एक शब्द, शब्दाँश या वाक्य खण्ड की उसी क्रम से आवृत्ति हो, पर प्रत्येक बार अर्थ भिन्न हो, वहां यमक अलङ्कार होता है❀।

यमक में एक शब्द दो बार आता है, पर दोनों बार उस का अर्थ भिन्न होता है। एक ही अर्थ हो तो 'लाटानुप्रास' हो जाता है। कई बार पूरा सार्थक शब्द न आकर किसी और शब्द के दो तीन वर्णों का साम्य हो जाता है। पर यह साम्य संयुक्त स्वरों सहित होता है। जैसे—'नय विशारद शारद-चन्द्रिका' इस में 'शारद' दो बार आगया है पर पहला 'विशारद' शब्द का भाग है दूसरा 'शारद' पद है।

उदाहरण

(१) कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग यहि पाये बौराय॥

यहां 'कनक' शब्द दो बार आया है, पर पहले का अर्थ स्वर्ण है और दूसरे का 'धतूरा'। इस का अर्थ है—स्वर्ण में धतूरे

❀ एक शब्द फिर फिर जहां परै अनेकन बार।
अथ और ई और हो सो यमकालंकार॥ (बिहारी०)

से सौगुनी मादकता अधिक है। धत्तूरे को तो खाकर मद होता है, पर सोने को पाकर (पास होने से ही) मद चढ़ जाता है।

(२) दीरघ सांस न लेइ दुख, सुख साईं मति भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सुकबूल ॥

यहां पर 'दई दई की आवृत्ति है। पहले 'दई दई' का अर्थ है 'हाय हाय'। तीसरे 'दई' का अर्थ 'दैव ने' चौथे 'दई' का अर्थ है 'दिया है'।

[पूरा अर्थ है 'हाय हाय क्यों करते हो, दैव ने जो दिया है उसे ही स्वीकार करो'।]

कई बार निरर्थक-शब्द-साम्य भी होता है—

(१) महा-सुकुमार कुमार मार सा अभिराम राम सम समर में।

यहां कुमार, मार, राम और सम दो २ बार आये हैं, पर पहला 'कुमार' सुकुमार शब्द का भाग है। इसी प्रकार पहला 'मार' कुमार शब्द का भाग है, और पहला 'राम' 'अभिराम' शब्द का भाग है तथा दूसरा 'सम' समर शब्द का भाग है। वैसे पढ़ने में ये एक जैसे प्रतीत होते हैं। इसे ही निरर्थक-शब्द-साम्य कहते हैं।

(२) मृदुल तान्त लतान्तसमान थी।

वह कोमल कुम्हलाई हुई कोंपल की तरह थी।

यहां 'लतान्त', 'लतान्त' दो बार है, पर पहले 'लतान्त' में 'ल' मृदुल शब्द का भाग है और 'तान्त' पृथक् पद है। यही निरर्थक शब्दों का साम्य है।

यमक के सैंकड़ों भेद हैं जिनका यहां लिखना अनुपयुक्त है, कारण कि आजकल उनका प्रचार नहीं। कहीं पाद के आदि में, कहीं मध्य में कहीं अन्त में, कहीं 'अन्त्यादि' में, कहीं मध्यादि में, आवृत्ति होती है। कहीं पद्य का पूरा पाद दोहराया जाता है, कहीं दो पाद दोहराये जाते हैं, कहीं पूरा का पूरा पद्य दोहराया जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि यमक की आवृत्ति में सदा अर्थ भेद होता है। भूषण कवि का एक श्लोक दिग्दर्शन के लिये नीचे दिया जाता है—

ऊंचे घोर मन्दर[1] के अन्दर रहन वारी[2] ।
ऊंचे घोर मन्दर[3] के अन्दर रहाती[4] हैं ॥
कंद मूल[5] भोग करैं कंद मूल[6] भोग करैं ।
तीन बेर[7] खातीं ते वे तीन बेर[8] खाती हैं ॥
भूखन[9] सिथिल अङ्ग भूखन[10] सिथिल अङ्ग ।
बिजन[11] डुलातीं ते वे बिजन[12] डुलाती हैं ॥
भूखन भनत वीर सिवराज तेरे त्रास ।
नगन[13] जड़ाती[14] ते वे नगन[15] जड़ाती[16] हैं ॥

---

१ महल । २ रहने वाली । ३ बन्दीगृह । ४ चिल्लाती हैं। ५ मिठाई आदि । ६ बनों के कन्द और मूल । ७ बार, दफा । ८ बेर जंगली फल । ९ गहनों से । १० भूख से । ११ व्यजन, पंखा। १२ निर्जन में । १३ नगीनों से, जवाहरात से । १४ जड़ी हुई । १५ नंगी । १६ जाड़े से सुन्न हो रही है ।

पुनरुक्तवदाभास

जहां वस्तुतः भिन्न अर्थवाले ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जो देखने में समान अर्थवाले प्रतीत हों, वहां पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार होता है* ।

पुनरुक्तवदाभास में शब्द की पुनरुक्ति नहीं होती । दो ऐसे शब्द रख दिये जाते हैं जिनका अर्थ एक ही होता है । पर वस्तुतः प्रकरण सङ्गति से उनका अर्थ भिन्न होता है । जैसे 'ताल तड़ाग' ये दो शब्द इकट्ठे आ जाएं तो पाठक के चित्त में भ्रम होता है कि ताल और तड़ाग के अर्थ 'तालाब' के हैं फिर यह दो बार क्यों कहा । पर प्रकरण में वस्तुतः इन के अर्थ 'ताड़ वृक्ष और तालाब' के होते हैं ।

यदि अर्थ में भेद न हो तो यह पुनरुक्ति दोष हो जायगा ।

उदाहरण

अली भौंर गूंजन लगे, होन लगे दल पात ।
जहँ तहँ फूले रूख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात ॥

यहां पर 'अली, भौंर' (भ्रमर) समानार्थक से प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः 'अली' का अर्थ यहां 'सखी' का है और 'भौंर' का अर्थ 'भ्रमर' का है । 'दल, पात' ये भी समानार्थक (पत्ते) से प्रतीत होते हैं । पर वास्तव में यहां 'दल' का अर्थ 'पत्ता' है और 'पात' का अर्थ पतन-गिरना है । 'रूख, तरु' ये भी समानार्थक (वृक्ष)

---

*जानि परै पुनरुक्ति सी पै पुनरुक्ति न होय ।
पुनरुक्तिवदाभास तेहि भूषण कह सब कोय ॥ (अ० मं०)

से प्रतीत होते हैं। पर वास्तव में यहां 'रूख' का अर्थ रूक्ष, रूखा-सूखा और 'तरु' का अर्थ वृक्ष का है। 'प्रिय, प्रीतम' ये भी एक ही अर्थवाले प्रतीत होते हैं पर 'प्रिय' का अर्थ प्यारा और प्रीतम का अर्थ 'पति' का है।

इस प्रकार यहां पुनरुक्ति सी दिखाई देते हुए भी पुनरुक्ति नहीं है। इसी से इसको पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।

आवृत्तिमूलक शब्दालङ्कारों में परस्पर भेद

अनुप्रास और लाटानुप्रास में—

अनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति होती हैं, लाटानुप्रास में शब्दों की आवृत्ति होती है।

लाटानुप्रास, यमक और पुनरुक्तवदाभास में—

लाटानुप्रास में दोहराये गये शब्दों का दोनों बार एक ही अर्थ होता है।

यमक में दोहराये गये शब्दों का प्रति बार भिन्न अर्थ होता है।

पुनरुक्तवदाभास में शब्दों की नहीं, पर शब्दों के अर्थ की आवृत्ति सी मालूम पड़ती है और वह भी वास्तव में नहीं होती।

अनुप्रासों में परस्पर भेद—

छेकानुप्रास में एक या एक से अधिक वर्ण केवल दो बार आते हैं। वृत्त्यनुप्रास में एक या एक से अधिक वर्ण कई बार आते हैं। इन दोनों में वही वर्ण दोहराये जाते हैं, पर श्रुत्यनुप्रास में वही वर्ण न दोहरा कर उनके समानस्थानीय वर्णों का प्रयोग होता है।

अन्त्यानुप्रास पाद के अन्त में ही आता है। अन्य अनुप्रासों में व्यञ्जनों के स्वरों की समानता का नियम नहीं, पर अन्त्यानुप्रास में व्यञ्जनों की स्वरों सहित आवृत्ति होती है।

शब्दश्लेष

जहां एक शब्द के प्रकरण में अपेक्षित अनेक अर्थ हों, वहां शब्दश्लेष अलङ्कार होता है॥।

श्लेष में दो बातें आवश्यक हैं।

१—एक शब्द के एक से अधिक अर्थ हों।

२—एक से अधिक अर्थ प्रकरण में अपेक्षित हों।

उदाहरण

माया महाठगिनि हम जानी।
तिरगुण फांस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी॥

यहां तिरगुण शब्द के दो अर्थ हैं—'तीन गुणों—धागों—वाली तेहरी रस्सी' और 'तीन गुणों (सत्व, रज, तम) वाली'। और ये दोनों ही अर्थ प्रकरण में अपेक्षित हैं, क्योंकि यहां माया को 'ठगिनी' की उपमा दी गई है। ठगिनी के हाथ में तेहरी (बहुत पक्की) रस्सी होती है जिस से वह लोगों को फांसती है। माया के हाथ में तीन—सत्व, रज, तम रूपी गुणों की फाँस है जिस से वह सब जग को फँसाती है।

॥ प्रगट अनेकन अर्थ जहँ एक शब्द से होय।
ताहि कहत श्लेष कवि, सो द्वै विधि को होय॥ (सा० सागर)

शब्दश्लेष के भेद—

शब्दश्लेष दो प्रकार का है ।

(१) अभंगश्लेष । (२) सभंगश्लेष ।

अभंगश्लेष वह है जहां पूरे पद के दो अर्थ निकलें ।

सभंगश्लेष वह है जहां पदों को तोड़ कर दो अर्थ निकाले जाएं ।

उदाहरण

अभंग-श्लेष--

बहुबरण सहजप्रिया तमगुण-हरा प्रमाण ।
जग-मारग-दरशावनी सूरज किरण समान ॥

भावार्थ—सीता कहती है कि राम की यह अंगूठी सूर्य की किरणों के समान है ।

बहुबरण—(अंगूठी—जिस पर 'राम' नाम के बहुत वर्ण-अक्षर खुदे हुए हैं ।
किरण—जिन में बहुत वर्ण – रंग होते हैं) ।

सहजप्रिया—(अंगूठी—मुझे स्वभाव से ही प्यारी;
किरण—सारे संसार को स्वभाव से ही प्यारी)

तम-गुण-हरा—(अंगूठी—संशय और अज्ञान को दूर करने वाली,
किरण—अन्धेरे को दूर करने वाली)

जगमारगदरशावनी—(अंगूठी—सांसारिक कर्तव्य को दिखाने वाली;
किरण—संसार को मार्ग दिखाने वाली)

इन में पूरे शब्दों के दो २ अर्थ हुए हैं। कहीं शब्द को तोड़ना नहीं पड़ा। तथा 'सूरज किरण समान' कहने से दोनों ही अर्थ प्रकरण में अपेक्षित हैं। इससे यहां अभङ्ग-श्लेष है।

सभंग-श्लेष—

द्विजतियतारक पूतनामारण में अतिधीर।
काकोदर को दरपहर जय रघुवर यदुवीर॥

इसमें रघुवर (राम) और यदुवीर (कृष्ण) का वर्णन है।

द्विजतियतारक—द्विजतिय—ब्राह्मण की स्त्री अहल्या को तारने वाले (राम)

द्विजतिय—गोपियों के तारने वाले (कृष्ण)

पूतनामा—पवित्र नाम वाले
रण में अतिधीर—युद्ध में अतिधीर } (राम)

पूतना मारण में अतिधीर—पूतना नामक राक्षसी को मारने में निपुण (कृष्ण)

काकोदर को दरपहर—काक वेशधारी जयन्त (इन्द्र का पुत्र) के दर्प को नष्ट करने वाले (राम)

कालियनाग का अभिमान तोड़ने वाले (कृष्ण)

यहां पर इन शब्दों के प्रकरण में दोनों अर्थ अपेक्षित हैं। 'द्विजतिय' और 'काकोदर' में तो पूरे शब्दों के दो २ अर्थ निकल आये। पर 'पूतनामारण' पद को तोड़ कर अर्थ निकालना पड़ा 'पूतनामा+रण' और पूतना+मारण। इसलिये 'पूतनामारण' में सभङ्ग-श्लेष है।

नोट—यमक में दो अर्थों वाले शब्द दो बार कहे जाते हैं। जैसे—'कनक कनक तें सौ गुनी' इत्यादि में। पर श्लेष में दो अर्थों वाला शब्द एक ही बार कहा जाता है। यही इन में भेद है।

वक्रोक्ति

जहां वक्ता के अन्यार्थक वाक्य का श्रोता अन्य ही अर्थ कल्पित करके उत्तर दे, वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है❀।

वक्रोक्ति का अर्थ है—'टेढ़ी बात'।

इस में चार बातें होती हैं—

(१) वक्ता कुछ बात कहे।

(२) वक्ता का वह बात कहने में अभिप्राय कुछ और हो।

(३) श्रोता उसका कुछ और ही अर्थ समझे।

(४) और वह अर्थ उसके उत्तर से प्रगट हो।

वक्ता के अन्यार्थक वाक्य के अन्य अर्थ की कल्पना दो प्रकार की होती है।

(१) श्लिष्टपदों के प्रयोग के द्वारा। इसे श्लेषवक्रोक्ति कहते हैं।

(२) काकु के द्वारा। इसे काकुवक्रोक्ति कहते हैं।

❀ और अर्थ काल्पित करै कहन और ही होय।
दोय भान्ति वक्रोक्ति है, श्लेष काकु से सोय॥ (सा० सागर)

श्लेष वक्रोक्ति का पंजाबी भाषा में एक सुन्दर उदाहरण यह है—
गृह-स्वामिनी ने अपनी नौकरानी को कुछ लाने के लिये भेजा और कहा—'जल्दी जल्दी आवीं'—अर्थात् शीघ्रता से आना।

नौकरानी ने उत्तर दिया—'जल्दी जल्दी आवे मेरी दुश्मन' अर्थात् जलती हुई मेरी दुश्मन आये, मैं क्यों जलूं।'

कंठ के ध्वनि-विकार (बोलने के लहज़े) को काकु कहते हैं। काकु से भी अर्थ विपरीत हो जाता है—जैसे 'तुम सभा में नहीं गये'। इसको लहज़ा बदलकर कहें तो यह प्रश्न हो सकता है—तुम सभा में नहीं गये ? इसे ही यदि और लहज़ा बदल कर कहें तो इसका अर्थ हो जायगा—क्या, तुम सभा में नहीं गये अर्थात् तुम भी गये थे। इस प्रकार 'तुम सभा में नहीं गये' का अर्थ काकु के द्वारा यह हो जाता है कि 'तुम सभा में अवश्य गये थे'।

श्लेषवक्रोक्ति सभङ्ग और अभङ्ग भेद से दो प्रकार की है—

उदाहरण

सभङ्गश्लेष-वक्रोक्ति—

मानतजोगी सुमति कर पुनि पुनि होत न देह।
मानतजोगी जोग को हम नहिं करत सनेह॥

यहां रुष्ट हुई राधा को मनाते हुए कृष्ण कहते हैं—

सुमति करके (अकल से काम लेकर सोचो) यह देह बार बार नहीं होती। इसलिये मान तजोगी ?—क्रोध छोड़ दोगी क्या ?

इस पर राधा उत्तर देती है—जोगी—योगी लोग ही जोग—योग को मानत—मानते हैं—मुझे योग से कोई काम नहीं।

यहां 'मानतजोगी' को तोड़कर श्लेष निकलता है। मान-तजोगी और मानत-जोगी। इसलिये यह सभङ्ग-श्लेष है। फिर कृष्ण के अन्यार्थक वाक्य को अन्यथा कल्पना करके राधा ने अन्य ही उत्तर दिया है। इससे यहां वक्रोक्ति है। दोनों के मिलान से यहां सभङ्ग-श्लेष-वक्रोक्ति हुई।

अभंग-श्लेष-वक्रोक्ति—

खोलो जू किवाँर, तुम को हौ ऐती बार ?
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में।
हौं तो प्यारी 'माधव', तो कोकिला के माथे भाग,
'मोहन' हौं प्यारी, परो मंत्र अभिचार में।
'नायक' हौं नागरी, तो हांको कहूं टाँड़ो जाय,
हौं तो 'घनस्याम', बरसो जू काहू खार में ॥

यहां भी कृष्ण-राधा संवाद है—

कृष्ण—अजी किवाड़ खोलिये।

राधा—इस समय आने वाले तुम कौन हो ?

कृष्ण—मेरा नाम 'हरि' है।

राधा—हरि (बन्दर) हो तो जाओ जंगलों और पहाड़ों में, (वही बन्दरों का स्थान है)।

कृष्ण—मैं 'माधव' हूँ।

राधा—माधव (वसन्त) हो तो कोकिला के माथे भाग है, (मुझे इससे क्या ?)

कृष्ण—नहीं, मैं 'मोहन' हूँ।

राधा—मोहन (वशीकरण विद्या का जादू) हो तो कहीं जादू करने वाले के मंत्रों में पढ़े जाओ।

कृष्ण—मैं 'नायक' हूँ (तुम्हारा पति)।

राधा—यदि नायक (मल्लाह) हो तो जाओ चप्पे मार कर नौका चलाओ।

कृष्ण—मैं 'घनश्याम' हूँ।

राधा—घनश्याम (काले बादल) हो तो कहीं रेतले मैदान में जाकर बरसो।

यहां कृष्ण के अन्यार्थक वाक्यों का राधा ने अभङ्गश्लेष के द्वारा अन्य अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया है। अतः यहां अभङ्गश्लेष-वक्रोक्ति है।

काकुवक्रोक्ति

जहां वक्ता के कहे हुए अभिप्राय का काकु (कण्ठध्वनि विकार) से अन्य अर्थ किया जाय।

उदाहरण

(१) एक कह्यौ 'वर देत भव, भाव चाहिये चित्त।'
सुनि कह कोउ 'भोले भवहिं भाव चाहिये? मित्त'॥

किसी ने कहा भव (शिव) वर देते हैं, पर चित्त में भाव होना चाहिये। यह सुनकर दूसरे ने कहा, अरे मित्र, भोले भव के लिये 'भाव चाहिये'? अर्थात् भगवान् शंकर इतने भोले हैं कि उनके रिझाने के लिये 'भाव' की भी आवश्यकता नहीं।

यहां वक्ता के अभिप्राय को काकु के द्वारा बदल दिया गया है। इस से यहां काकु वक्रोक्ति है*।

---

*यदि काकु से केवल प्रश्न उपस्थित करने वाले कण्ठ-ध्वनि-विकार का ही ग्रहण न किया जाय, तो निम्न पद्य कण्ठध्वनिभेद-जन्य काकुवक्रोक्ति का सुन्दर उदाहरण हो सकता है—

लक्ष्मण—मंजरी सी अँगुलियों में यह कला,
देखकर मैं क्यों न सुध भूलूं भला।

वक्रोक्ति और श्लेष में भेद—

श्लेष में दोनों अर्थ प्रकरण में अपेक्षित होते हैं। अतः वे वाच्य कहाते हैं। वक्रोक्ति में दो अर्थ होते हैं सही, पर दूसरा अर्थ गम्य होता है। उसे व्यञ्जना से समझ लेना पड़ता है।

श्लेष में चमत्कार का आधार एक शब्द के दो अर्थ हैं। वक्रोक्ति में चमत्कार का आधार टेढ़ी बात है। उस के लिये श्लेष एक अपेक्षित अङ्ग है। बात की वक्रता यहां मुख्य है, और श्लेष गौण है।

क्यों न अब मैं मत्त-गज सा झूम लूं,
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूं॥
उर्मिला—मत्त-गज बनकर विवेक न छोड़ना।
कर-कमल कह कर न मेरा तोड़ना॥

यहाँ लक्ष्मण उर्मिला की कारीगरी पर मुग्ध होकर कहता है कि मैं इसे देखकर मत्त गज की भान्ति मस्त होगया हूँ। लाओ, तुम्हारा यह कर-कमल (जिस से तुमने इसे बनाया है) मैं चूमलूं।

इस पर उर्मिला परिहास करती हुई लक्ष्मण के शब्दों (मत्त-गज और कर-कमल) को दूसरे लहज़े में कह कर उनका अन्य ही अर्थ प्रगट करती है। वह कहती है—यदि तुम मत्त-गज की तरह मस्त हो गये हो तो मेरे कर-कमलों को न तोड़ देना। मत्त-गज मस्त होकर जब कमल-सरोवर में स्नान के लिये जाता है तो कमलों को उखाड़ फेंकता है। इससे उर्मिला ने कहने के लहज़े से लक्ष्मण को उसी के शब्दों के लिये लज्जित कर दिया।

भाषा-संकर* ।

जिस रचना में अनेक भाषाओं के शब्दों का चमत्कार-पूर्ण प्रयोग किया गया हो, वहां भाषा-संकर अलङ्कार होता है ।

उदाहरण

मोटिआं रोटिआं मूल ना भाँदिआं,
मां मुझे भात में स्वाद आता नहीं ।
केक्स आर् डेंटियर इत्थमालम्ब्यते
भाषणे संकरः सभ्यपञ्चापके ॥

यहां पहला पाद पञ्जाबी भाषा का है। दूसरा हिन्दी भाषा का। 'केक्स आर् डेंटियर्' (cakes are daintier केक अधिक स्वादु लगते हैं) यह अंग्रेज़ी है। इस के आगे संस्कृत भाषा है—'इस प्रकार के भाषा संकर को पंजाब के सभ्य लोग व्यवहार में लाते हैं ।'

यहां बहुत सी भाषाओं का मिश्रण होने से यह भाषा-संकर है ।

---

*हिन्दी के अलङ्कार-लेखकों ने संस्कृत की अनुकृति पर इस अलङ्कार का नाम 'भाषासमक' रखा है। पर वे उदाहरण में 'भाषा-समता' का समन्वय नहीं लगा सके। वस्तुतः हिन्दी में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। शायद यह हिन्दी में हो ही नहीं सकता। अतः उदाहरणों के अनुसार इसका नाम भाषासंकर होना चाहिये ।

अर्थालङ्कार

जहां सौन्दर्य और चमत्कार का आधार 'अर्थ' हो, वहां अर्थालङ्कार होता है।

'चमत्कार का आधार' कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थालङ्कारों में शब्द बदल देने पर भी चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता। जैसे—

'फेंकत जिमि अहि जानि के अन्ध दियो गलहार।'

इसको यदि शब्द बदल कर इस प्रकार पढ़ें—

'ज्यों हार फेंकता अन्ध भुजङ्गम जान कर'।

तो भी सौन्दर्य, चमत्कार और अलङ्कार में कोई क्षति नहीं होती। इस लिये अर्थालङ्कारों में चमत्कार का आधार 'शब्द' न होकर 'अर्थ' होता है।

अर्थालङ्कारों में भी सब से अधिक संख्या और प्रधानता सादृश्यमूलक अलङ्कारों की है। और सादृश्यमूलक अलंकारों में 'उपमा' सब से प्रधान है, क्योंकि प्रायः सारे ही अलंकार 'उपमा' पर अवलम्बित हैं। इसी लिये उपमा को अलंकारों का शिरोमणि और काव्यगत चमत्कार का सर्वस्व माना गया है। आचार्य लोग उपमा को अलंकारों की माता कह कर पुकारते हैं। उपमा के यथावत् ज्ञान से शेष अलंकारों का ज्ञान सुगम हो जाता है। इस कारण पहले उपमा का ही निरूपण किया जाता है।

(१) सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार

उपमा

किसी समानता वाचक पद के द्वारा उपमेय के उपमान के साथ समान धर्म के प्रतिपादन को उपमा कहते हैं❀।

उपमा का अर्थ है—समता, तुलना या बराबरी। समता दो ही पदार्थों में हो सकती है। उन दोनों में कोई एक बात समान होनी चाहिये। उस समानता को प्रगट करने के लिये कोई शब्द भी होना चाहिये। इस प्रकार इस लक्षण के अनुसार उपमा में चार बातें आवश्यक हैं। इन्हें भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

(१) उपमेय—जिसको उपमा दी जाय—जिस का वर्णन हो रहा हो। जैसे—'राम का मुख नील-कमल के समान सुन्दर है'। यहां 'राम के मुख' को 'नील कमल' से उपमा दी गई है। अतः यहां 'राम का मुख' उपमेय है। उपमेय को प्रस्तुत, प्रकृत, विषय और 'वर्ण्य' भी कहते हैं।

(२) उपमान—जिस से उपमा दी जाय। जैसे उक्त वाक्य में राम के मुख को नील-कमल से उपमा दी गई है। अतः 'नील-कमल' उपमान है। उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत, विषयी, और पर भी कहते हैं।

(३) समानतावाचक पद—जिमि, इव, ज्यों, जैसे, सम, सरिस, सा, सी, तुल्य, यथा, न्याईं आदि

❀ जहां बरनिये दुहनि की सम छवि को उल्लास।
पंडित कवि 'मतिराम' तहँ उपमा कहत प्रकास॥ (मतिराम)

समानता-सूचक पदों को 'समानता-वाचक-पद' या केवल 'वाचक पद' कहते हैं। जैसे उक्त वाक्य में 'समान' यह वाचक पद है। इसे ही सादृश्यबोधक और औपम्यबोधक भी कहते हैं।

(४) समानधर्म—उपमेय और उपमान में जो बात समान रूप से पाई जाती है, उसे 'समानधर्म' कहते हैं। जैसे उक्त वाक्य में 'सुन्दर' यह समानधर्म है क्योंकि उपमेय (राम के मुख) और उपमान (नील-कमल) दोनों में 'सुन्दर' धर्म समान रूप से पाया जाता है। इसे साधारणधर्म भी कहते हैं।

राम का मुख	उपमेय
नील-कमल	उपमान
समान	समानतावाचक पद
सुन्दर	समानधर्म

इन चारों को समझ लेने के बाद उपमा के लक्षण का सार यह निकलता है कि दो भिन्न वस्तुओं की समानता का वर्णन करना उपमा है।

जहां दो वस्तुएं (उपमेय और उपमान) भिन्न न होंगी। वहां उपमा न होगी। जैसे—

'पर भारत के सम भारत है'।

यहां भारत की समता भारत से ही की गई है। अतः सादृश्य होने पर भी यहां उपमेय और उपमान भिन्न नहीं हैं। इस कारण यहां उपमा नहीं है। (यहां अनन्वय अलंकार है जिस का वर्णन आगे आयगा)।

यदि इव, जिमि, यथा आदि कोई समानतावाचक पद न हो, तो भी उपमा नहीं होती। जैसे--'राम का मुख-कमल विकसित हो गया'। यहां मुख-कमल में सादृश्य तो है, पर वह सादृश्य 'के समान', 'सदृश', 'सरिस' आदि किसी वाचक पद के द्वारा प्रगट नहीं किया गया। अतः यहां भी उपमा नहीं है। (यहां रूपक अलंकार है जिसका वर्णन आगे होगा)।

'समानधर्म का प्रतिपादन' कहने का तात्पर्य यह है कि उपमा में उपमेय और उपमान की 'समानता' का दिखाना आवश्यक है। दोनों में से किसी की हीनता या अधिकता दिखाई जाय तो उपमा नहीं होती। जैसे 'सीता का मुख चांद से बढ़ कर सुन्दर है, क्योंकि चांद में काला धब्बा है, और सीता के मुख में कोई धब्बा नहीं'। यहां उपमेय (सीता का मुख) की उपमान (चांद) से समानता नहीं, उत्तमता दिखाई गई है। इसलिये यहां भी उपमा अलंकार नहीं है। (यहां पर व्यतिरेक अलंकार है जिस का वर्णन आगे होगा)।

इस से यह स्पष्ट है कि उपमा का शुद्ध लक्षण यही है—किसी समानता वाचक पद के द्वारा जहां उपमेय के उपमान के साथ समान धर्म का प्रतिपादन हो, वहां उपमा होती है।

उदाहरण

पीपर पात सरिस मन डोला।

यहां 'मन' उपमेय है। 'पीपर पात' (पीपल का पत्ता) उपमान है। 'सरिस' यह उपमावाचक पद है और 'डोलना' यह दोनों—मन और पीपल के पत्ते में—समान धर्म है। इससे यहां 'उपमा' अलंकार है।

उपमा के भेद

उपमा के दो मुख्य भेद हैं—

(१) पूर्णोपमा।

(२) लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा उसे कहते हैं जहां उपमा के उपर्युक्त चारों अंग (उपमेय, उपमान, वाचक पद और समान धर्म) विद्यमान हों। जैसे--उक्त उदाहरण में बताये गये हैं।

लुप्तोपमा में इन चारों में से एक दो या कभी कभी तीन भी लुप्त होते हैं और उनका अध्याहार किया जाता है। जैसे—'राम का मुख नील कमल के समान है'। यहां उपमेय (राम का मुख) उपमान (नीलकमल) और वाचक पद (समान) विद्यमान हैं पर समान धर्म (सुन्दर- मनोहर आदि) नहीं है। यहां समानधर्म (सुन्दरता आदि) अपने आप समझ लिया जाता है। इससे यहां पर लुप्तोपमा है।

लुप्तोपमा में अधिकतर 'समानधर्म' का ही लोप होता है कहीं २ वाचक पद भी लुप्त होता है। कभी समान धर्म और वाचक पद दोनों लुप्त होते हैं। शेष उपमान और उपमेय का लोप बहुत ही कम दृष्टिगोचर होता है।

उदाहरण

पूर्णोपमा—

(१) मधुकर सरिस सन्त गुण-ग्राही।

यहां उपमा के चारों अंग पूर्ण हैं—'सन्त' उपमेय है। 'मधुकर' उपमान है। 'सरिस' वाचक पद है। 'गुणग्राही' समान धर्म है।

(२) नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहती।

यहां भी पूरे चारों अंग विद्यमान हैं—'जलधार' उपमेय है। 'हीरक हार' उपमान है। 'सी' वाचक पद है। 'उज्ज्वल, सोहत' समान धर्म है।

लुप्तोपमा—

समानधर्मलुप्ता

जहां 'समान धर्म' का लोप हो—

(१) नव-नलिनी से नैन वाला कहां है।

यहां उपमा के तीन अंग विद्यमान हैं और समान धर्म का लोप है—'नैन' उपमेय है। 'नलिनी' उपमान है। 'से' वाचक पद है। पर 'सुन्दर' आदि समान धर्म कोई नहीं है। वह ऊपर से लगा लिया जाता है। अतः यहां 'समानधर्मलुप्ता' उपमा है।

(२) माता ऐसा पूत जन जैसा राणा प्रताप।

यहां—'पूत' उपमेय है। 'राणा प्रताप' उपमान है। 'जैसा' वाचक पद है। पर 'वीर', 'देश भक्त' आदि समानधर्म का अध्याहार किया जाता है।

वाचकलुप्ता

जहां 'वाचक पद' का लोप हो—

चन्द्र-मनोहर गात।

यहां उपमेय (गात) उपमान (चन्द्र) और समानधर्म (मनोहर) विद्यमान हैं पर वाचक पद (जैसा आदि) का अभाव है।

धर्मोपमेय लुप्ता

जहां 'समान धर्म' और 'उपमेय' दोनों का लोप हो--

अहा ! चन्द्र सा निकला घन से, फैल गया उजियाला।

यहां 'चन्द्र' उपमान है। 'सा' वाचक पद है। पर उपमेय और साधारणधर्म नहीं हैं।

उपमा के अन्य भेद

रसनोपमा

जहां कई उपमा अलंकारों की एक रशना (शृंखला, जंजीरी) सी बन जाय और पहली उपमा का उपमेय अगली उपमा का उपमान बनता हुआ चला जाय, वहां रसनोपमा होती है ❋।

उदाहरण

वच सी मधुरी मूरती, मूरति सी कल कीर्ति।
कीरति लौं सब जगत में छाय रही तव नीति॥

यहां वचनों के समान मधुर मूर्ति, मूर्ति के समान सुंदर कीर्ति

❋ जहां प्रथम उपमेय सों होत जात उपमान।
तहां कहत रसनोपमा कवि मतिराम सुजान। (मतिराम)

कीर्ति के समान नीति, ये अनेक उपमाएं हैं और पूर्व का उपमेय अगली में उपमान बनता हुआ चला गया है। इससे यहां 'रसनोपमा' अलंकार है।

समुच्चयोपमा

जहां उपमेय और उपमान के अनेक साधारणधर्म बताये जाएं, वहां समुच्चयोपमा होती है।

जैसे—राम का मुख कमल के समान कोमल, सुन्दर और सुरभित है। इस में मुख (उपमेय) और कमल उपमान के 'कोमल, सुन्दर और सुरभित' ये तीन साधारणधर्म बताये गये हैं। यह समुच्चयोपमा है।

उदाहरण

चंपक-कलिका सी अहै, रूप रंग अरु बास।

यहां वर्णित सुन्दरी उपमेय है, चंपक-कलिका उपमान है पर समानधर्म रूप, रंग और बास तीन हैं। इस लिये यहां समुच्चयोपमा है।

मालोपमा

जहां एक उपमेय के बहुत उपमान हों, वहां मालोपमा होती है*।

उदाहरण

(१) सफरी सें चंचल घने मृग से पीन सुएन।
कमल पत्र से चारु घन, राधा जू के नैन॥

*जहां एक उपमेय को होत बहुत उपमान।
तहाँ कहत मालोपमा कवि मतिराम सुजान॥ (मतिराम)

यहां राधा के नेत्रों (उपमेय) के, मछली, मृग और कमल ये तीनों उपमान दिये गये हैं। अतः यहां मालोपमा है।

(२) चामर-सी, चन्दन-सी, चन्द्रिका-सी, चाँद ऐसी,
चाँदनी चमेली चारु चाँदी सी सुघर है।
कुन्द-सी, कुमुद-सी, कपूर-सी, कपास ऐसी,
कल्पतरु कुसुम-सी, कीरति-सी वर है।
....
सुधा की छहर ऐसी, गङ्गा की लहर है।

यहां गङ्गा की लहर (उपमेय) के बहुत से उपमान दिये गये हैं। अतः यहां मालोपमा है।

उपमाओं में परस्पर भेद

पूर्णोपमा में उपमा के चारों अङ्ग पूर्ण होते हैं।

लुप्तोपमा में चारों अङ्गों में से कोई एक या दो या तीन लुप्त होते हैं।

रसनोपमा में पूर्व उपमा का उपमेय अगली उपमा का उपमान बन जाता है। इस प्रकार उपमाओं की जंजीर सी बन जाती है।

समुच्चयोपमा में एक उपमेय का एक उपमान होता है, पर साधारण धर्म बहुत होते हैं।

मालोपमा में एक उपमेय के बहुत उपमान होते हैं। साधारण धर्म चाहे एक हो, चाहे अनेक।

उपमेयोपमा

जहां उपमेय और उपमान को परस्पर उपमान और उपमेय बनाया जाय, वहां उपमेयोपमा होती है❀।

उपमेयोपमा में दो भिन्न उपमाएं होती हैं। दोनों उपमाओं में उपमेय और उपमान दो भिन्न पदार्थ होते हैं। पर पहली उपमा के उपमेय को दूसरी उपमा में उपमान और पहली उपमा के उपमान को दूसरी उपमा में उपमेय बना दिया जाता है। इसको 'परस्परोपमा' भी कहते हैं।

उदाहरण

(१) राम के समान शंभु, शंभु सम राम हैं।

यहां दो उपमा हैं—(१) शंभु राम के समान हैं।
(२) राम शंभु के समान हैं।

दोनों में उपमेय और उपमान—(शंभु, राम) भिन्न २ हैं।

पर पहली उपमा के उपमेय (शंभु) को दूसरी उपमा में उपमान और पहली उपमा के उपमान (राम) को दूसरी उपमा में उपमेय बना दिया गया है। अतः यहां उपमेयोपमा है।

(२) "कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं"

यहां पर भी पहली उपमा के उपमेय (नैन) और उपमान (कमल), दूसरी उपमा में उपमान और उपमेय बन गये हैं।

रसनोपमा और उपमेयोपमा में भेद

रसनोपमा में पहली उपमा का उपमेय अगली उपमा

❀ उपमा लागै परस्पर सो उपमा उपमेय।

का उपमान बन जाता है, पर पहली उपमा का उपमान दूसरी उपमा में उपमेय नहीं बनता।

उपमेयोपमा में दोनों वाक्यों के उपमेय-उपमान परस्पर उपमान-उपमेय हो जाते हैं। रसनोपमा में केवल पहला उपमेय अगले में उपमान और अगले का उपमेय उससे अगले का उपमान बनता हुआ चला जाता है। यही इन में भेद है।

अनन्वय

जहां उपमेय और उपमान भिन्न २ न हों, अर्थात् उपमेय का उपमान उपमेय को ही बताया जाय, वहां अनन्वय अलङ्कार होता है❀ ।

अनन्वय में वर्ण्य का प्रस्तुत विषय की समानता किसी भिन्न उपमान से नहीं की जाती। किन्तु 'उस सा वही' बतलाया जाता है।

उदाहरण

(१) पर भारत के सम भारत है।

यहां उपमेय भी 'भारत' है और उपमान भी 'भारत' है। भारत को किसी भिन्न उपमान से समानता न देकर 'उस सा वही है,' यह वर्णन किया गया है। इस से यहां अनन्वय अलंकार है।

(२) भीषम सो भीषम भये।

भीष्म के समान भीष्म ही थे। यहां भी 'उस सा वही' बताया गया है। इस लिये अनन्वय अलङ्कार है।

❀ जहाँ एक ही बात कौ उपमेयो उपमान।
तहाँ अनन्वय कहत हैं, कबि मतिराम सुजान ॥ (ललित-ललाम

(३) सुन्दर नन्द किशोर से सुन्दर नन्द किशोर।

यहां नन्द किशोर को नन्द किशोर के ही समान सुन्दर बताया गया है। इससे अनन्वय अलङ्कार है।

उपमेयोपमा और अनन्वय में भेद

उपमेयोपमा में उपमेय और उपमान दो भिन्न पदार्थ होते हैं, और वे दोनों परस्पर एक दूसरे के जैसे वर्णन किये जाते हैं। पर अनन्वय में उपमेय और उपमान दो भिन्न पदार्थ नहीं होते। एक ही पदार्थ उपमेय और उपमान का काम देता है।

स्मरण

जहां किसी सदृश पदार्थ को देख कर, सुन कर या सोच कर किसी पूर्वपरिचित वस्तु की याद आये, वहां स्मरण अलंकार होता है*।

स्मरण अलंकार में स्मृति के द्वारा सादृश्य प्रगट किया जाता है। वस्तुतः यह उपमा की भांति उपमान और उपमेय की समानता प्रगट करने का ही एक सुन्दर ढंग है। जैसे हम कहें—'सीता का मुख चन्द्रमा के समान है'--तो यह उपमा हो गई। पर इसी को यदि यों कहें--'चन्द्रमा को देख कर सीता के मुख की याद आती है'—तो यह स्मरण हो जाता है[1]।

---

* कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु, सुधि आवै कछु खास।
सुमिरन ताको भाषिये, बुधवर सहित हुलास ॥ (अं० मं०)

१ यह स्मरण रखना चाहिये कि सादृश्यज्ञान के बिना साधारण स्मृतिमात्र में यह अलंकार नहीं होता। इसी लिये इसको सादृश्य-मूलक अलंकारों में गिना गया है।

स्मरण में तीन बातें होती हैं—

(१) समानधर्म वाली दो वस्तुओं का होना।

(२) उन में से एक उस समय उपस्थित हो और दूसरी उपस्थित न हो।

(३) उपस्थित को देख कर अनुपस्थित की याद आना।

उदाहरण

(१) मकरालय मरजाद लखि, सुधि आवत श्रीराम।

यहां समुद्र की मर्यादा को देख कर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का स्मरण होने से स्मरण अलङ्कार है। समुद्र और राम में 'मर्यादा रक्षण' रूप सादृश्य है।

(२) जो होता है उदित नभ में कौमुदी-कान्त आके,
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
लोने लोने हरित दल के पादपों को विलोके,
प्यारा प्यारा विकच मुखड़ा है मुझे याद आता॥

यहां चांद, खिला हुआ फूल और श्याम वृक्षों के देखने से कृष्ण के मुख (जो इनके समान है) का स्मरण होता है। अतः यहां स्मरण अलङ्कार है।

रूपक

जहां उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाय, वहां रूपक अलङ्कार होता है*।

---

* उपमेय ऽरु उपमान को एक रूप दरसाय।
वाचक धर्म न देय जहँ रूपक सोई कहाय॥ (बिहारी०)

आरोप का अर्थ है--रूप दे देना । अर्थात् जहां उपमेय को उपमान का ही रूप दे दिया जाय, वहां रूपक होता है। आरोप में समानता--(समानता वाचक पद) का कथन नहीं किया जाता। समानता का बोध अत्यन्त सादृश्य के कारण गम्य होता है। यद्यपि रूपक में उपमेय को उपमान का रूप दे दिया जाता है, तो भी उपमेय का साथ रहना आवश्यक है।

रूपक में ये बातें आवश्यक हैं—

(१) उपमेय को उपमान का रूप देना।

(२) वाचक पद का अभाव।

(३) उपमेय का भी साथ कथन करना।

उदाहरण

(१) मुख चांद है।

यहां पर उपमेय (मुख) को उपमान (चांद) का रूप दे दिया गया है और समान धर्म और वाचक पद उपस्थित नहीं हैं। वे अत्यन्त सादृश्य के कारण अपने आप समझ लिये जाते हैं। मुख (उपमेय) भी साथ ही कथित है।

(२) समय-सिन्धु चञ्चल है भारी।

यहां समय को सिन्धु का रूप दे दिया है और वाचक पद का यहां पर लोप है। उपमेय (समय) भी साथ ही कथित है। इस लिये यहां रूपक अलंकार है।

रूपक के मुख्य भेद

रूपक के तीन मुख्य भेद हैं—

(१) साङ्गरूपक या सावयव रूपक।

(२) निरङ्ग रूपक या निरवयव रूपक।

(३) परम्परित रूपक।

(१) साङ्गरूपक

जहां उपमेय में उपमान के आरोप के साथ ही उपमेय के इतर अङ्गों में भी उसी उपमान के इतर अङ्गों का आरोप कर दिया जाय, वहां साङ्गरूपक होता है।

साङ्गरूपक का अर्थ है—अङ्गों सहित आरोप, अर्थात् अङ्गों सहित उपमेय में अङ्गों सहित उपमान के आरोप वाला पूरा रूपक। जैसे—'मुख रूपी चन्द्रमा की स्मितरूपी चांदनी खिल रही है'। यहां मुख प्रधान (अङ्गी) उपमेय है और चन्द्र प्रधान (अङ्गी) उपमान है। हंसी यह मुख का अंग है। चांदनी यह चन्द्र का अङ्ग है। हंसी (स्मित) और चांदनी में पूरा सादृश्य है। मुख में चांद के आरोप के साथ मुख के अङ्ग 'स्मित' में, चांद के अङ्ग 'चांदनी' का भी आरोप है। इस से यहां अङ्गों सहित उपमेय में अङ्गों सहित उपमान का आरोप है। इसलिये यह साङ्गरूपक हुआ।

उदाहरण

(१) सन्त-हंस गहहिँ गुन-पय, परिहरि बारि-विकार।

यहां सन्त (प्रधान-अङ्गी) उपमेय को हंस उपमान का

रूप दिया गया है। सन्तों का धर्म है गुण ग्रहण और दोषों का परित्याग। हंस का काम है दूध और पानी में से दूध का ग्रहण और पानी का परित्याग। गुणों में 'पय' और विकारों (दोषों) में 'वारि' का आरोप किया गया है।

इस प्रकार अङ्गी के अंगों में भी उपमान के अंगों का पूरा आरोप है। इस से यह सांगरूपक है।

(२) भूप मनोरथ सुभग बन सुख सुविहंग समाज।
भिल्लनि जनु छांडन चहति, बचन भयङ्कर बाज॥

यहां राजा का मनोगत सुख कैकेयी के वचनों से नष्ट हुआ जा रहा है—इस साङ्ग उपमेय को भीलनी वन में पक्षियों पर भयंकर बाज छोड़ना चाहती है—इस साङ्ग उपमान का रूप दे दिया गया है—

भूपमनोरथ में सुभगवन का आरोप किया गया है।
सुख में पक्षिगणों का आरोप किया गया है।
कैकेयी में भीलनी का आरोप किया गया है।
वचनों में भयंकर बाज का आरोप किया गया है।

इस प्रकार यहां पर अङ्गों सहित उपमेय में अङ्गों सहित उपमान का पूरा आरोप है। इसलिये यहां साङ्ग रूपक है।

(२) निरङ्ग रूपक

जहां केवल उपमेय में ही उपमान का आरोप हो वहां निरङ्ग रूपक होता है।

(१) चरण-कमल बंदौं हरि राई॥

यहां केवल चरणों (उपमेय) को कमल (उपमान) का रूप दिया गया है। अतः यह निरंग रूपक है।

(२) भक्ति-नदी में क्यों न नहा कर,
कर लेता है जीवन शीतल।

यहां भक्ति को नदी का आरोप किया गया है।

निरंग रूपक में प्रायः एक ही आरोप होता है। कभी २ एक उपमेय में बहुत से उपमानों का आरोप किया जाता है। इसे मालारूप निरंग रूपक कहते हैं। जैसे—

भूपति भगीरथ के रथ की सुपुण्य पथ
जन्हु जप योग फल, फैल[1] को फहर[2] है।
छेम को छहर[2] गंगा रावरी लहर
कलिकाल को कहर[3] जमजाल[4] को जहर है॥

यहां गंगा की लहर (एक उपमेय) को अनेक उपमानों का निरङ्ग रूप दिया गया है। इसलिये यह मालारूप निरंग रूपक है।

(३) परम्परित रूपक

जहां एक रूपक दूसरे रूपक का कारण बने, वहां परम्परित रूपक होता है।

परम्परित रूपक में न तो सांगरूपक की भांति कोई अंग-अंगिभाव होता है, न निरंग की भांति एक ही रूपक होता है।

---

१ फैलाव २ विस्तार
३ घातक ४ यम-जाल, मृत्यु की बेड़ियां

इस में दो भिन्न उपमेयों को दो भिन्न उपमानों का रूप दिया जाता है, पर दूसरे आरोप का कारण पहला आरोप होता है।

जैसे—'भुवनमण्डप को धारण करने के लिये विष्णु की भुजाएं स्तम्भ हैं'। यहां चूंकि भुवन को मण्डप का रूप दिया गया है, इसलिये विष्णु की भुजाओं को स्तम्भ बनाना पड़ा।

उदाहरण

(१) जय जय जानकीस दससीस-करि केसरी।

यहां दससीस (रावण) को हाथी का रूप दिया गया। इस कारण जानकीस (राम) में केसरी का आरोप हुआ।

(२) पति रविकुल-कैरवबिपिन-विधु गुण रूप निधान।

कौशल्या कहती है—सीता के पति राम सूर्यवंश रूप कुमुदिनियों के वन के लिये विधु (चन्द्र) रूप हैं।

यहां सूर्यवंश में कुमुद वन का आरोप राम में विधु के आरोप का कारण है। इसलिये यहां परम्परित रूपक है।

रूपकों के परस्पर भेद

परम्परित रूपक में एक रूपक दूसरे रूपक का कारण बनता है। इस में अंगांगिभाव नहीं होता।

सांग रूपक में अंगांगिभाव अवश्य रहता है और वहां प्रधान उपमान के अंगों ही का आरोप होता है।

निरंग रूपक में अकेला रूपक, बिना अंगों के आता है।

उपमा और रूपक में भेद

उपमा में उपमेय और उपमान की समता (बराबरी) दिखाई जाती है। पर रूपक में उन दोनों को एक रूप दे दिया जाता है। जैसे 'मुख चांद के समान है' यह उपमा है। पर 'मुख चांद है' यह रूपक है।

पहले उदाहरण में मुख और चांद की तुल्यता है पर दूसरे में मुख को ही चांद कह दिया गया है। मोटी पहचान यह है कि रूपक में वाचक पद नहीं होता है।

सन्देह

जहां किसी वस्तु को देख कर तत्सदृश अन्य वस्तु के संशय होने का चमत्कारपूर्ण वर्णन हो, वहां सन्देह अलंकार होता है।❀

अनिश्चयात्मक ज्ञान—जिस ज्ञान में निश्चय न हो—उसको सन्देह कहते हैं। अर्थात् जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं कर सकते, तो उसको संशय या संदेह कहते हैं। जैसे अन्धेरे में किसी लकड़ी के खम्भे को देख कर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह क्या है—यह खम्भा है ? या कोई पुरुष खड़ा है ? इस प्रकार के अनिश्चित ज्ञान का नाम संशय है।

❀ निश्चय होय न वस्तु कों, सो सन्देह कहाय।
काधौं, यह धौं, यह कि यह, यहि विधि शब्द जताय॥
(सा० सागर)

इस में—

(१) कोई एक वस्तु देखी जाती है।

(२) उस में इतर वस्तुओं की समानता पाई जाती है।

(३) इतर वस्तुओं से भेद करके उसके ज्ञान का ठीक निश्चय नहीं होता।

यह तो हुई साधारण संदेह की बात। पर सन्देह अलंकार में साधारण सन्देह को अलंकार नहीं माना जाता। इस में दो बातें आवश्यक हैं—

(१) सन्देह समानता पर अवलम्बित हो। इस में सादृश्य का होना आवश्यक है। अन्यथा सन्देह अलंकार नहीं होता। जैसे—'वह यहां से चला गया है न जाने घर गया है या दफ़्तर को गया है'। यहां भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। पर सादृश्य-मूलक न होने से यहां सन्देह अलंकार नहीं है।

(२) सन्देह के वर्णन में कोई विशेष चमत्कार होना चाहिये। 'यह खम्भा है या कोई पुरुष खड़ा है'—इसमें यद्यपि सादृश्य-मूलकता है पर चमत्कारहीन होने से यहां भी सन्देह अलंकार नहीं है।

अतः सन्देह अलंकार में तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) अनिश्चयात्मक ज्ञान।

(२) अनिश्चय किसी प्रकार की समानता पर अवलम्बित हो।

(३) अनिश्चय का चमत्कार पूर्ण वर्णन हो।

उदाहरण

(१) कै बालगुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ व्रजरमणी जल आवती॥

यहां यमुना जल में चन्द्र के बिम्ब को देख कर सन्देह प्रगट किया गया है। क्या यह आकाश में उड़ती हुई बालगुड़ी (पतंग) है या कोई व्रज-रमणी जल में डुबकी लगाए आ रही है।

यहां यमुना में चांद का हिलता हुआ प्रतिबिम्ब देखा गया। उसमें आकाश में उड़ती हुई पतंग और जल में डुबकी लगा कर तैरती हुई व्रज-रमणी इन दो का सन्देह हुआ। इन दोनों में दर्शक यह निश्चय न कर सका कि यह क्या है। इस अनिश्चय का मूल समानता है क्योंकि चांद और पतंग, यमुना का नीलजल और आकाश, प्रतिबिम्ब का हिलना और पतंग का उड़ना ये सब समान हैं, इसी प्रकार व्रज-रमणी का मुख और चांद, तैरना और हिलना भी सादृश्य रखते हैं।

इस सन्देह के वर्णन में विशेष चमत्कार भी है। इस लिये सन्देहालंकार का पूरा लक्षण घट जाने से यहां सन्देह अलङ्कार है।

(२) यह काया है या शेष उसी की छाया,
　　क्षण भर उन की कुछ, नहीं समझ में आया।

यहां क्षीण दुर्बल उर्मिला को देख कर लक्ष्मण यह निश्चय नहीं कर सके कि यह उर्मिला की काया है या उसकी छाया। अतः यहां पर सन्देह अलंकार है।

कहीं २ बीच में या अन्त में निश्चय भी हो जाता है। जैसे—

घनच्युत चपला ? कै लता ? संशय भयौ निहारि ।
दीरघ स्वासनि लखि कपी किय सीता निरधारि ॥

सीता को देख कर हनुमान को सन्देह हुआ कि यह बिजली है या लता। पर दीर्घ-श्वास देख कर उसने निश्चय किया कि यह सीता है। यह 'निश्चयान्त सन्देह' है।

कैधौं यह रमा, छीर सागर तें उपजी ना।
कैधौं यह गिरिजा न गिरि ते जनम है ॥

यहां रमा और गिरिजा का सन्देह क्षीर-सागर से और गिरि से उत्पन्न न होने के कारण तो मिट गया, पर यह क्या है यह संदेह बना ही रहा। इस लिये इसे 'निश्चय गर्भ' कहते हैं अर्थात् यहां आदि में सन्देह, अन्त में भी सन्देह है, पर मध्य में निश्चय है कि यह रमा या गिरजा नहीं है।

भ्रान्तिमान्

जहां सादृश्य के कारण किसी वस्तु को कुछ और ही समझ कर उसका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाय, वहां भ्रान्तिमान् अलंकार होता है*।

---

* भ्रम औरै कौ आर में जब निश्चय कर होय।
ताहि भ्रांति अरु भ्रम कहत कवि कोबिद सब कोय ॥
(बिहारी)।

भ्रान्ति का अर्थ है भ्रम, मिथ्या ज्ञान या और को औ समझ लेना। भ्रान्ति में किसी एक वस्तु को देखकर तत्सदृश अन्य वस्तु का धोखा हो जाता है। भ्रान्ति में हमारा ज्ञान निश्चयात्मक होता है, पर वह होता है मिथ्या ज्ञान। जो कुछ हम जानते है उसमें संशय नहीं होता। जैसे किसी ने धूप में चमकती हुई सी देखी। उसे यह निश्चित रूप में ज्ञान हो जाता है कि यह चां है। वह भाग कर उसे उठाना चाहता है। इसी प्रकार मनुष् अन्धेरे में रस्सी को सांप समझ लेता है और डर जाता है, इ दोनों में दर्शक को संशय नहीं होता, निश्चय होता है, पर व निश्चय यथार्थ ज्ञान से नहीं मिथ्या ज्ञान से होता है।

प्रकृत भ्रान्तिमान् अलंकार में प्रस्तुत उपमेय में उपमान क धोखा हो जाता है। उपमेय को उपमान ही समझ लिया जात है। जैसे कोई मुख को देख कर कहे कि 'यह चन्द्रमा है।'

भ्रान्तिमान् अलंकार में तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) और को और समझना (मिथ्या ज्ञान या धोखा)।

(२) मिथ्या ज्ञान का कारण सादृश्य हो।

(३) मिथ्या ज्ञान के वर्णन में कुछ विशेष चमत्कार हो।

इसलिये 'सीप में चांदी की भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलंक नहीं है। कारण कि इस में कुछ भी चमत्कार नहीं। इसी प्रक 'भीम की गदा की चोट से उसे आकाश में सैंकड़ों च दिखाई दिये' इत्यादि वाक्य में भी भ्रान्तिमान् अलंकार नह क्योंकि यहां भ्रान्ति का कारण सादृश्य नहीं, अपितु गदा चोट है जिस से उसका सिर फिर गया।

उदाहरण

(१) पुष्प-राशि-समान उसकी देख पावन कांति,
भूप को होने लगी जङ्गम-लता की भ्रांति।
क्या मनोमिष से उन्हीं के जान कर अरविंद,
घूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिंद॥

शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त को यह भ्रान्ति हुई कि यह कोई फूलों की बेल है। इधर एक भ्रमर भी शकुन्तला के मुख को कमल समझ कर उसके आस पास आकर घूमने लगा।

यहां शकुन्तला में पुष्पलता का भ्रम राजा को हुआ और शकुन्तला के मुख में कमल का भ्रम भ्रमर को हुआ। दोनों के भ्रम का कारण सादृश्य है क्योंकि पुष्पलता और सुकुमारी, कमल और मुख में सादृश्य विद्यमान है। इस भ्रम का वर्णन भी बड़ी चातुरी से हुआ है। इस लिये यहां भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

(२) चन्द्र अकास कौ बास बिहाय कै,
आज यहां कहां आन उऔ[1] है।

यहां किसी के मुख को देख कर दर्शक को यह भ्रम हुआ कि चांद आकाश छोड़ कर यहां कहां आकर उदित हुआ है।

(३) कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जानि अशोक अँगार सिय हरषि उठि कर गहेउ॥

हनुमान ने मुद्रिका गिराई, उसे सीता ने आग का अंगारा

1 उदय होना।

समझा और बड़े हर्ष से उसे हाथ में उठा लिया। (सीता मरने के लिये उस समय अग्नि की आवश्यकता में थी) यहां सीता को अंगूठी में अंगारे की भ्रान्ति हुई जो सादृश्य-मूलक है। अतः यहां भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

सन्देह और भ्रान्तिमान् में भेद

सन्देह में हमारा ज्ञान दो कोटि का होता है। उस में निश्चय नहीं होता। 'यह है या वह है' इस प्रकार अनिश्चित रहता है। जैसे—यह 'चांद है या मुख'।

भ्रान्तिमान् में हमारा ज्ञान निश्चित होता है—वहां 'यह है या वह' का विकल्प नहीं होता। 'यह चांद है' इस प्रकार का निश्चय हो जाता है।

सन्देह में उपमेय और उपमान के गुणों के सादृश्य के कारण संशय होता है।

भ्रान्तिमान् में उपमेय में उपमान का धोखा हो जाता है।

भ्रान्तिमान् और रूपक का भेद

रूपक में हम उपमेय में उपमान का आरोप करते हैं। पर हमें यह ज्ञान होता है कि यह वस्तुतः मुख है। 'मुख चन्द्रमा है' यह रूपक है। इस में मुख और चन्द्रमा दो भिन्न पदार्थ हैं और दोनों का ज्ञान है। केवल अत्यन्त सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का आरोप कर दिया गया है। फलतः रूपक में उपमेय साथ रहता है।

भ्रान्तिमान् में उपमेय में उपमान का धोखा हो जाता है। मुख को देख कर यह ज्ञान नहीं होता कि यह मुख है। धोखे से

हम उसे 'चन्द्रमा ही' समझ लेते हैं। 'यह चांद है'। फलतः भ्रान्तिमान् में उपमेय साथ नहीं रहता।

रूपक में चमत्कार का आधार उपमेय को उपमान का रूप दे देना है। भ्रान्तिमान् में चमत्कार का आधार उपमेय में उपमान का धोखा खाना है।

उल्लेख

जहां एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाय, वहां उल्लेख अलङ्कार होता है*।

उदाहरण

(१) अनुकूल आद्या शक्ति की सुखदायिनी जो स्फूर्ति है,
सद्धर्म की जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है।
नर जाति की जननी तथा शुभ शान्ति की स्रोतस्वती,
हे दैव, नारी जाति की कैसी यहां है दुर्गती !!

यहां 'नारी जाति' का अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है।

(२) तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में॥

यहां भी एक का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

---

* काहु हेत इक व्यक्ति को बहु विधि वर्णन होय।
ताहि कहत उल्लेख हैं कवि कोविद सब कोय॥ (बिहारी०)

उल्लेख के भेद

उल्लेख के दो भेद हैं—

(१) प्रथम उल्लेख।
(२) द्वितीय उल्लेख।

प्रथम उल्लेख

प्रथम उल्लेख में अनेक व्यक्तियों द्वारा एक का अनेक प्रकार का वर्णन होता है।

उदाहरण

(१) कविजन कल्पद्रुम कहैं, ज्ञानी ज्ञान-समुद्र ।
दुरजन के गन कहत हैं, भावसिंह रन-रुद्र ॥

राजा भावसिंह को कवि कल्पद्रुम, ज्ञानी ज्ञान-समुद्र और दुर्जन रन-रुद्र कहते हैं। यहां अनेक व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति (भावसिंह) का अनेक प्रकार से वर्णन है। अतः यहां प्रथम उल्लेख है।

(२) दीनन दयालु जानों, दासन कृपाल जानों,
नंद निज लाल जानों, काल जानों कंस ने।

यहां कृष्ण का अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन है। अतः यहां भी प्रथम उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख

द्वितीय उल्लेख में एक ही व्यक्ति एक का अनेक प्रकार से वर्णन करता है।

(१) साधुन में तुम साधु हौ, राजन में शिवराज।
शठन संग शठता करौ, कविन संग कविराज ॥

यहां एक ही व्यक्ति को साधुओं में साधु, राजाओं में शिवराज, शठों में शठ, और कवियों में कविराज कहा गया है। इस प्रकार विषय भेद से एक का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

(२) हा ! वृद्धा के अतुलधन, हा ! वृद्धता के सहारे,
हा ! प्राणों के परम प्रिय, हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन-सम, हा ! रूप लावण्य वारे,
हा ! बेटा, हा हृदय-धन, हा ! नैन-तारे हमारे ॥

यहां भी एक व्यक्ति (यशोदा) ने कृष्ण का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अतः यहां द्वितीय उल्लेख है।

अपह्नुति

जहां सत्य को छिपा कर असत्य का प्रतिपादन किया जाय, वहां अपह्नुति अलंकार होता है*।

अपह्नुति का अर्थ है छिपाना—इन्कार करना। इस में सत्य (उपमेय) को छिपा कर असत्य (उपमान) का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे—'यह मुख नहीं, चांद है'—इस में सत्य मुख से इन्कार किया गया है और असत्य (उपमान) चांद का प्रतिपादन है।

---

* सत्य वस्तु को छिपाकर, असत सत्य दरसाय।
ताहि अपह्नुति कहत हैं, षट् विधि रूप जनाय। (बिहारी)

अपह्नुति के छः भेद हैं—

(१) शुद्धापह्नुति—जहां उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान की स्थापना की जाय।

(२) हेत्वपह्नुति—जहां उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान की स्थापना करने में कोई हेतु भी साथ दे दिया जाय।

(३) पर्यस्तापह्नुति—जहां उपमान का प्रतिषेध करके, उपमेय को ही उपमान बताया जाय।

(४) कैतवापह्नुति—जहा 'मिस', 'व्याज', 'छल', 'बहाना' आदि शब्दों के द्वारा उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाय।

(५) भ्रान्तापह्नुति—जहां किसी की भ्रान्ति को दूर करने के लिये असत्य का निषेध करके सत्य की स्थापना की जाय।

(६) छेकापह्नुति—किसी छिपाने वाली सत्य बात को कुछ २ प्रगट करके फिर चतुराई से उसका प्रतिषेध करके असत्य बात की स्थापना की जाय।

(१) शुद्धापह्नुति

इसमें सत्य (प्रकृत) का प्रतिषेध और असत्य की स्थापना मात्र होती है ❀।

❀ औरै को आरोप करि सांच छपावत धर्म।
शुद्धापह्नुति कहत हैं जे प्रवीन कवि कर्म॥ (मतिराम)

उदाहरण

(१) पहिरे स्याम न पीत पट, घन में बिज्जु विलास।

यहां पीताम्बरधारी कृष्ण के श्यामवर्ण और पीत वस्त्रों (प्रकृत) को छिपा कर 'बादल में बिजली' (उपमान) की स्थापना की गई है।

(२) नहिं सुधांसु यह है सखी, नभगङ्गा को कञ्ज।

यहां सुधांसु (चन्द्र) प्रकृत है। उसका निषेध करके 'आकाश गंगा का कमल' इस अप्रकृत उपमान की स्थापना की गई है।

(२) हेत्वपह्नुति

इस में शुद्धापह्नुति के साथ वैसा करने के लिये, हेतु भी दे दिया जाता है*।

उदाहरण

(१) रात मांझ रवि होत नहिँ, ससि नहिँ तीव्र सु लाग।
उठी लखन अवलोकिये, बारिधि को बड़वाग॥

राम ने चन्द्रमा को देखकर कहा कि हे लक्ष्मण यह चाँद नहीं क्योंकि यह तो बड़ा तीव्र सा लगता है। यह सूर्य भी नहीं क्योंकि रात को सूर्य होता नहीं। यह समुद्र से निकली हुई बड़वाग्नि है।

यहां प्रकृत चांद का निषेध करके अप्रकृत बड़वाग्नि का स्थापन किया गया है और उसमें हेतु भी दिया है कि इसकी किरणें

---

* शुद्धापह्नुति में जहां कहिये हेतु बनाय।
हेतु अपह्नुति कहत हैं ताहि सकल कविराय॥ (अ० मं०)

बड़ी तीव्र लग रही हैं। सूर्य के निषेध में भी हेतु दिया है कि सूर्य रात को नहीं होता। हेतु के बिना यह शुद्ध अपह्नुति होती, पर हेतु होने से यह हेत्वपह्नुति बन गई।

(२) किंसुक-सुमन-समूह लखि, दाहक कबहुँ न होत।
यह आली, दीपत दिसनि, दावानल की जोत॥

यहां पलाश के फूलों का प्रतिषेध करके उन्हें दावानल की ज्योति बताया है और उस में हेतु दिया है कि फूल कभी 'दाहक' नहीं हो सकते।

(३) पर्यस्तापह्नुति

इस में उपमान का निषेध करके उपमेय को ही उपमान बताया जाता है*।

उदाहरण

(१) वह अमृत अमृत नहीं, अमृत यहै अमोल।
भरो तिया तुव बदन बिच, निकसत मीठे बोल॥

यहां अमृत के अमृतत्व का प्रतिषेध करके प्रिया के मधुर-भाषण को ही अमृत बताया गया है। इस से यहां पर्यस्तापह्नुति हुई।

(२) रतनाकर सागर न है मथुरा नगर बजार।

यहां रतनाकर (रत्नों का आकर=समुद्र) के रत्नाकर-पन का निषेध करके मथुरा के बाज़ार को रत्नाकर बताया गया है।

---

* धर्म और में राखिये धर्मी सांच छिपाय।
पर्यस्तापह्नुति कहें ताहि सकल कविराय॥ (अ० मं०)

(४) कैतवापह्नुति

इस में छल, व्याज, बहाना आदि शब्दों से सत्य को छुपा कर असत्य की स्थापना की जाती है। इसको छलापह्नुति भी कहते हैं[1]।

उदाहरण

(१) मुख में कलक मिसि कारिख लगाय कै।

यहां चन्द्रमा के कलंक (सत्य) को मिसि शब्द के द्वारा प्रतिषेध करके 'मुंह में कालिख लगाने' (असत्य) का प्रतिपादन किया गया है।

(२ निपट नींद मिस मोहिनी लगी जतावन मान।

यहां पर नींद (सत्य) का मिस शब्द के द्वारा प्रतिषेध है और मान जताना (असत्य) स्थापित किया गया है।

(५) भ्रान्तापह्नुति

इस में भ्रान्ति दूर करने के लिये असत्य ज्ञान का निषेध करके सत्य की स्थापना की जाती है[2]।

---

१ जहँ छल आदिक पदनि सों सांच छुपावत बात।
तहँ छलपह्नुति कहत हैं कविजन मति अवदात॥ (मतिराम)

२ जहँ और संका भए करत झूठ भ्रम दूरि।
भ्रान्तापह्नुति कहत हैं तहां सुकवि मति भूरि॥ (मतिराम)

यह भ्रान्तापह्नुति वस्तुतः 'निश्चय' अलंकार है जिस को साहित्य-दर्पण आदि में पृथक् अलंकार माना है। यह है भी अपह्नुति के लक्षण के विपरीत। पर हिन्दी में ऐसी ही शैली होने से हमने इसे यहां यथावत् दे दिया है। हिन्दी में अलंकारों का जब वैज्ञानिक ढंग से विवेचन होगा, तब इसे पृथक् 'निश्चय' ही माना जायगा।

उदाहरण

(१) फूले सघन पलास ये, नहिं दावानल ज्वाल।

फूले हुए पलाश को देखकर सखी को दावानल का भ्रम हुआ। उसके भ्रम का निवारण दूसरी सखी ने किया है।

यहां भ्रम असत्य (दावानल) का निषेध करके सत्य (पलाश-पुष्प) की स्थापना की गई है। इस से यहां भ्रान्तापह्नुति है।

(२) चन्द्र है न, सिर तिलक यह, व्याल न, मुकता हार।
भसम न, तन चन्दन लग्यो, मार! न तू मुहि मार॥

कोई विरही काम से कहता है—मालूम होता है तुम ने मुझे शिव समझ लिया है। शिव से तुम्हारा वैर है, क्योंकि उसने तुम्हें एक बार दग्ध कर दिया था। अब तुम उसका बदला लेने के लिये मुझ पर अपना घोर प्रहार कर रहे हो। कामदेव के इस भ्रम को वह इस प्रकार दूर करता है—

मेरे माथे पर यह तिलक है, चन्द्र नहीं है जिस के भ्रम से तुम ने मुझे शिव समझा है। मेरे गले में यह मुक्ताहार है, यह सर्प नहीं जिस से तुम ने मुझे शिव समझने में धोखा खाया है। मेरे शरीर पर यह चन्दन का लेप है, भस्म नहीं जिस से तुम्हें शिव का भ्रम हुआ है। इस लिये तू मुझे मत मार।

यहां कामदेव के भ्रम को असत्य के निषेध और सत्य की स्थापना से दूर किया गया है। इस से यहां भ्रान्तापह्नुति है।

(३) छेकापह्नुति

इस में किसी छिपाने योग्य सत्य बात को कुछ कुछ प्रगट

करके उसका प्रतिषेध किया जाता है और बड़ी चतुरता से असत्य बात की स्थापना भी साथ ही की जाती है* ।

उदाहरण

(१) टट्टी तोड़ कर घर में आया,
अर्तन बर्तन सब सरकाया ।
खा गया पी गया दे गया बुत्ता,
क्या सखि साजन, ना सखि कुत्ता ।

यहां गोपनीय साजन-आगमन को कुछ कुछ प्रगट करके फिर उसका निषेध किया गया है और असत्य (कुत्ता) की स्थापना की गई है ।

(२) वह आवे तब शादी होय,
उस बिन दूजा और न कोय ।
मीठे लागे वाके बोल,
ऐ सखि साजन, ना सखि ढोल ॥

यहां साजन का निषेध और ढोल की स्थापना है ।

नोट—छेक अपह्नुति में सत्य का प्रतिषेध करके और असत्य का चतुराई से प्रतिपादन करके भ्रमनिवृत्ति की जाती है ।

भ्रान्तापह्नुति में असत्य के प्रतिषेध और सत्य के प्रतिपादन के द्वारा भ्रमनिवृत्ति की जाती है । 'भ्रम' दोनों में होता है ।

---

* पूछे से सत बात को तुरतहिं राखै गोय ।
उत्तर और हि देय कछु छेकापह्नुति सोय ॥ (बिहारी)

उत्प्रेक्षा

जहां उपमेय में कल्पित उपमान की संभावना की जाय, वहां उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है*।

सन्दिग्ध ज्ञान में यदि एक ओर को अधिक झुकाव हो जाय तो उसको संभावना कहते हैं। सन्दिग्ध ज्ञान में विकल्प होता है, अर्थात् हमारे ज्ञान की दो कोटियां या दो पक्ष होते हैं। 'वह आज आयगा या कल' यह संशय है। इस में ज्ञान के दोनों पक्ष—आज आना या कल आना—बराबर हैं। फिर यदि हम कहें कि 'उस के आने की आज ही सम्भावना है' तो यह एक प्रकार से सन्दिग्ध ज्ञान के दो पक्षों में से हम ने एक ओर को अधिक झुकाव प्रगट किया। इसी को सम्भावना कहते हैं। सम्भावना सन्देह से कुछ ऊपर और निश्चय से कुछ नीचे होती है। इस में न तो पूरा सन्देह और न पूरा निश्चय होता है।

उत्प्रेक्षा में प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत (उपमान) की सम्भावना की जाती है। मुख में चांद की सम्भावना की जाती है—'यह मुख मानों चांद है'। इस में वक्ता न तो मुख में चांद का सन्देह करता है (यह मुख है या चांद) और न वह मुख को चांद समझने का निश्चय करता है। वह मुख और चांद के संशय में चांद की ओर अपना अधिक झुकाव प्रगट करता है। इसे ही उत्प्रेक्षा कहते हैं।

उत्प्रेक्षा का अर्थ है—'उत्कट रूप में प्रेक्षण—देखना' अर्थात् उपमेय में उपमान को प्रबल रूप में देखना।

---

* जहँ कीजे संभावना सो उत्प्रेक्षा जानि।
वस्तु हेतु फल रूप से ताको त्रिविध बखानि॥ (मतिराम)

उत्प्रेक्षा में साधारण सम्भावना नहीं ली जाती । इस में कुछ विलक्षण कवि-कल्पना का भाग भी साथ रहता है तभी चमत्कार आता है । इस लिये उत्प्रेक्षा में उपमेय में कवि-कल्पित उपमान की सम्भावना होती है । कवि-कल्पित उपमान दो प्रकार का होता है—सिद्ध और असिद्ध । जो संसार में मिल जाय वह सिद्ध और जो संसार में न मिले वह असिद्ध (असम्भव) ।

मनु, जनु, इव, मानो, मनो मनहु, सा इत्यादि उत्प्रेक्षा के वाचक पद हैं ।

उदाहरण

(१) फूले कास सकल महि छाई ।
जनु वर्षा कृत प्रकट बुढ़ाई ॥

इस में वर्षा ऋतु के बाद शरद् के आगमन का वर्णन है । शरद् ऋतु में कास के सफेद फूल फूलते हैं । उन से सारी वनस्थली सफेद दिखाई दे रही थी । मानों वर्षा ऋतु ने अपना बुढ़ापा प्रगट किया हो ।

यहां कास के फूलों से आच्छादित मही प्रकृत या प्रस्तुत उपमेय है । इस में 'वर्षा ऋतु के बुढ़ापे' की संभावना की गई है । अब 'वर्षा ऋतु का बुढ़ापा' कोई सत्य-लोकसिद्ध उपमान नहीं है । इसकी भी कल्पना कवि ने की है । इस से यहां प्रकृत की कवि-कल्पित असिद्ध उपमान से संभावना है । अत एव यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है ।

(२) सलिलमग्न आकण्ठ सुहाता था वह ऐसे,
अलिकुल-कलकल-कलित कमल फूला हो जैसे ॥

यहां आकण्ठ पानी में खड़े होकर वेद-मंत्रोच्चारण करते हुए कर्ण (उपमेय) में भ्रमरों के शब्दों से युक्त फूले हुए कमल (उपमेय) की संभावना की गई है।

(यद्यपि यहां पर मानों शब्द नहीं है, तथापि 'फूला हो' यह शब्द संभावना को प्रगट करता है)

इस उदाहरण में 'वर्षा के बुढ़ापे' जैसा नितान्त लोक असिद्ध उपमान नहीं है । तथापि 'अलिकुल कलकल कलित' को 'कमल' का विशेषण बनाना कवि-कल्पना का ही काम है। अतः यह 'कवि कल्पित सिद्ध' उपमान गिना जाता है । इस लिये यहां भी उत्प्रेक्षा है।

उत्प्रेक्षा के भेद

उत्प्रेक्षा के मुख्य तीन भेद हैं—

(१) वस्तूत्प्रेक्षा। (२) हेतूत्प्रेक्षा। (३) फलोत्प्रेक्षा।

(१) वस्तूत्प्रेक्षा

जहां किसी (प्रकृत) वस्तु में दूसरी (अप्रकृत) वस्तु के स्वरूप की संभावना की जाय, वहां वस्तूत्प्रेक्षा होती है । इसको स्वरूपोत्प्रेक्षा भी कहते हैं।

उदाहरण

(१) गोरे मुख पर स्याम तिल, लगे बहुत अभिराम।
मानहुँ चंद बिछाइकै, पौढ़े सालग्राम ॥

यहां 'गोरे मुख पर काला तिल' प्रकृत वस्तु है और चांद को बिछाकर शालिग्राम' (काले रंग के गोल प्रस्तरमय ठाकुर जी जो

मन्दिरों में पूजे जाते हैं) का बैठना अप्रस्तुत वस्तु है। प्रकृत वस्तु में अप्रकृत वस्तु के रूप की सम्भावना की गई है। अतः यहां वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

(२) देखि समीप सरुष कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई॥

राम ने दशरथ के पास क्रोधभरी कैकेयी को देखा, मानों मृत्यु पास खड़ी घड़ियां गिन रही है।

यहां कैकेयी प्रकृत वस्तु है। उस में 'मृत्यु' (अप्रकृत वस्तु) के रूप की संभावना की गई है। अतः यहां भी वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) हेतूत्प्रेक्षा

जहां अहेतु में हेतु की संभावना की जाय, वहां हेतूत्प्रेक्षा होती है।

जो वस्तुतः हेतु न हो, उसे यदि 'हेतु' के रूप में सम्भावित किया जाय। जैसे—'पाप से उसके पैर भारी हो गये हैं तभी तो वह शीघ्र नहीं आता।' यहां किसी अपराधी के देरी में आने का हेतु 'पाप से पैरों का भारी होना' दिया है। पर वास्तव में यह हेतु नहीं है। जहां ऐसा ही कल्पित हेतु दिया जाय, वहां हेतूत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण

(१) नैन नीक नासा निरख, मानहु मनहिँ लजाय।
नीर बसे वारिज सकल, कीर बसे बन जाय॥

यहां प्रकृत सुन्दरी के नेत्र और नासिका को देखकर और लज्जित होकर कमल पानी में और कीर (शुक) वन में रहने

लगे हैं, यह उत्प्रेक्षा की गई है। पर कमलों के जल में रहने और शुकों के वन में रहने का हेतु यह नहीं है जिस की कवि ने कल्पना द्वारा सम्भावना की है। अतः अहेतु में हेतु की सम्भावना होने से यहां हेतूत्प्रेक्षा है।

(२) अरुण भये कोमल चरण भुवि चलिवे ते मानु।

यहां कोमल चरणों का अरुण (लाल रंग का) होना प्राकृत सौन्दर्य से है, पर कवि ने उस में हेतु दिया है—'भुवि चलिवे तें' 'भूमि पर चलने से'। इस से यहां भी अहेतु में हेतु की सम्भावना की गई है।

(३) फलोत्प्रेक्षा

जहां अफल में फल की सम्भावना की जाय (अर्थात् जो उद्देश्य न हो उसे उद्देश्य कल्पना करके कथन किया जाय), वहां फलोत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण

(१) तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूलसों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥

यहां—यमुना के तट पर उगे हुए तमाल वृक्ष मानों यमुना-जल का स्पर्श करने के लिये नीचे झुके हुए हैं—यह उत्प्रेक्षा की गई है। वास्तव में 'जल का स्पर्श करना' वृक्षों के झुकने का उद्देश्य नहीं है। इस उद्देश्य की कवि ने कल्पना की है। अतः यहां फल या उद्देश्य के अभाव में भी फल (उद्देश्य) की सम्भावना होने से फलोत्प्रेक्षा है।

(२) तुश्र मुख समता को कमल जल सेवत इक पाँय।

यहां 'तुम्हारे मुख की समता पाने के उद्देश्य से कमल के एक पाँओं के बल जल में तपस्या करने की सम्भावना की गई है। पर कमल के पानी में रहने का उद्देश्य यह नहीं है जो सम्भावित किया गया है। अतः यहां भी अफल में फल की सम्भावना है।

नोट—उपमा की भान्ति उत्प्रेक्षा में भी कहीं कहीं वाचक पद (मानौं, मनहु इत्यादि) का लोप होता है। कहीं कहीं पर प्रकृत वस्तु (विषय या उपमेय) का निर्देश नहीं किया होता। इस प्रकार इसके भी कई भेद हैं। जहां वाचक पद विद्यमान हो वहां 'वाच्य उत्प्रेक्षा' होती है और जहां वाचक पद विद्यमान न हो वहां 'गुप्तोत्प्रेक्षा' या 'गम्योत्प्रेक्षा' होती है। जहां विषय (उपमेय) का निर्देश किया हो वहां 'उक्तविषया' और जहां विषय का निर्देश न हो, उसे 'अनुक्तविषया' उत्प्रेक्षा कहते हैं।

इसी प्रकार कहीं कहीं उपमान सम्भव होता है, और कहीं कहीं असम्भव उपमान की सम्भावना की जाती है। प्रथम को 'सिद्धास्पदा' और दूसरी को 'असिद्धास्पदा' उत्प्रेक्षा कहते हैं। उक्त उदाहरणों में ही इन के निदर्शन देखिये।

उत्प्रेक्षा का अन्य अलंकारों से भेद

उत्प्रेक्षा और उपमा में—

उपमा में उपमेय की उपमान के साथ तुलना 'समता' की जाती है, उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है।

उपमा में उपमान लोकसिद्ध होता है, अर्थात् उपमान संसार में बना बनाया मिलता है और उन दोनों का साधर्म्य भी लोक-विदित होता है, जैसे—'मुख चांद के समान है'—यहां चांद

बना बनाया पदार्थ है। पर उत्प्रेक्षा में उपमान की कल्पना करनी पड़ती है, वह लोक में बना बनाया नहीं मिलता। जैसे 'नेत्रों से आंसू ऐसे टपक पड़े मानों दो सीपियों से दो बड़े मोती निकल पड़े हों' यहां दो सीपियों से दो मोतियों के निकलने की कल्पना की गई है।

उपमा का उपमान वस्तुतः विद्यमान पदार्थ होता है, उत्प्रेक्षा का उपमान सदा कल्पित—कभी २ संभव और कभी २ असम्भव पदार्थ होता है*।

उत्प्रेक्षा और रूपक में—

रूपक में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है। 'मुख चांद है' यह रूपक है। इसमें कहने वाले ने मुख को चांद का ही रूप दे दिया है। 'यह मुख मानों चांद है' इस में द्रष्टा ने मुख में चांद की सम्भावना की है।

रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों में ही द्रष्टा को 'मुख चांद से भिन्न पदार्थ है'—यह ज्ञान रहता है।

उत्प्रेक्षा और सन्देह में—

सन्देह में द्रष्टा का ज्ञान दो पक्षों में बराबर बंटा हुआ होता है। 'यह मुख है या चांद'। उत्प्रेक्षा में चांद की ओर अधिक झुकाव हो जाता है। 'मुख मानों चांद है'। सन्देह में वस्तुगत्या

* यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यवाचकः।
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः॥ अलं० सर्व० संजीवनी।

अनिश्चय होता है, पर उत्प्रेक्षा में जो अनिश्चय का अंश मिलता भी है, वह भी जानबूझ कर द्रष्टा के द्वारा कल्पित किया हुआ होता है।

उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् में—

भ्रान्तिमान् में उपमेय में उपमान की भ्रान्ति (धोखा) हो जाती है, उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की संभावना होती है।

सन्देह में ज्ञान की दो कोटियां होती हैं,—'यह मुख है या चांद'। भ्रातिमान् में ज्ञान की एक ही कोटि होती है और उस में उपमेय का ज्ञान ही नहीं होता। उपमेय को धोखे से उपमान समझ लिया जाता है। 'यह चांद है'। पर उत्प्रेक्षा में न तो सन्देह होता है न भ्रान्ति। इन दोनों के बीच की संभावना होती है। इन दोनों में द्रष्टा को वास्तव में संशय और भ्रम होता है, पर उत्प्रेक्षा में द्रष्टा का अनिश्चय कल्पित होता है। वह उपमेय और उपमान को दो भिन्न पदार्थ समझता है। उसे धोखा भी कोई नहीं होता। वह केवल उपमेय में उपमान की संभावना करता है।

उत्प्रेक्षा और अपह्नुति में।

अपह्नुति में उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान की स्थापना होती है। उत्प्रेक्षा में उपमेय का प्रतिषेध नहीं किया जाता। उस में उपमान की संभावना की जाती है। 'यह मुख नहीं, चांद है' यह अपह्नुति है। 'यह मुख मानों चांद है' यह उत्प्रेक्षा है।

अतिशयोक्ति

जहां प्रकृत विषय (उपमेय) को अप्रकृत (उपमान) बिलकुल ग्रस ही ले, वहां अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

अतिशयोक्ति का अर्थ है—विषय (उपमेय) को अतिशयित (उल्लंघन) करके कुछ कहना (अतिशय + उक्ति) । जिस रचना में उपमान उपमेय को एक प्रकार से अपने अन्दर ही निगल ले, उपमेय का उपादान ही न हो, केवल उपमान का ही वर्णन हो, वहां अतिशयोक्ति होती है। जैसे—किसी को भीतर से आते देख कर कोई कहे—'यह चांद कहां से निकल आया'। यहां प्रकृत (उपमेय) मुख का नाम भी न लेकर उसे 'चांद' ही कह दिया गया है।

भ्रान्तिमान् में भी ऐसा ही होता है, पर भ्रान्तिमान् में वक्ता को धोखा होता है। वह वस्तुतः मुख को चांद समझ बैठता है। अतिशयोक्ति में वक्ता को धोखा नहीं होता, वह जानबूझ कर 'मुख' उपमेय को न कह कर उसे 'चांद' ही कह देता है। भ्रान्तिमान् में 'यह चांद है' यह कहने का कारण भ्रान्ति है, पर अतिशयोक्ति में यह कहने का कारण उपमेय की अतिशय प्रशंसा—लोक-सीमा से भी परे की प्रशंसा है।

रूपक में उपमेय अवश्य साथ रहता है—'यह मुख चांद है'। रूपक में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है। पर अतिशयोक्ति में उपमेय को अतिशयित करके निगल ही लिया जाता है और उपमान ही का वर्णन होता है।

उदाहरण

इन्द्रजाल कंदर्प को, कहै कहा 'मतिराम'।
आगिलपट वर्षा करै, ताप करै घनस्याम।

यहां अग्नि की लपट से वर्षा का होना और काले बादल से ताप का होना बताया है । पर 'अग्नि की लपट' का उपमेय 'विरह' और वर्षा का उपमेय 'अश्रुजल' और बादल का उपमेय 'कृष्ण' और 'ताप' का उपमेय 'प्रेम-संताप' का उल्लेख नहीं है। ये उपमेय मानों उपमानों ने निगल ही लिये हैं । अतः यहां अतिशयोक्ति है ।

अतिशयोक्ति के भेद

अतिशयोक्ति के मुख्य सात भेद हैं ।

(१) भेदकातिशयोक्ति—अभेद में भेद प्रतिपादन करना ।
(२) सम्बन्धातिशयोक्ति—असम्बन्ध में सम्बन्ध दिखाना ।
(३) असम्बन्धातिशयोक्ति—सम्बन्ध में असम्बन्ध दिखाना ।
(४) अक्रमातिशयोक्ति—कारण और कार्य का एक साथ होना ।
(५) चपलातिशयोक्ति—कारण के देखने, सुनने या छूने मात्र से कार्य का हो जाना ।
(६) अत्यन्तातिशयोक्ति—कारण से पहले कार्य का होना ।
(७) रूपकातिशयोक्ति—उपमेय के बिना उपमान का ही वर्णन करना ।

(१) भेदकातिशयोक्ति

जहां वास्तव में उपमेय में कोई भेद न हो, पर 'अन्य', 'और ही', 'न्यारे' आदि शब्दों से भेद प्रकट किया जाय, वहां भेदकातिशयोक्ति अलङ्कार होता है * ।

* औरै यों करि कै जहां, बरनत सोई बात ।
भेदकातिशयउक्ति तहँ, कहत बुद्धि अवदात । (ललित ललाम)

उदाहरण

(१) जब से तन जौबन बढ़ौ, तब से भइ गति और।
नयन और, औरे नजर, रति औरे, मति और॥

यहां गति, नयन, दृष्टि, रति और मति आदि में कोई भेद न होने पर भी 'औरे', 'और' आदि शब्दों के द्वारा भेद प्रगट किया गया है। अतः यहां भेदकातिशयोक्ति है।

(२) जगत को जैतवार जीत्यो अवरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की।

यहां शिवराज की रीति में भेद न होने पर भी 'न्यारी' शब्द के द्वारा भेद का प्रतिपादन किया गया है।

(२) सम्बन्धातिशयोक्ति

जहां दो वस्तुओं में सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया जाय, या अयोग्य में योग्यता का प्रतिपादन किया जाय, वहां सम्बन्धातिशयोक्ति होती है।

उदाहरण

(१) अति ही बुलन्द[1] जहां चंद मैं ते अमी[2] चारु,
चूसत चकोर बैठे ऊपर मुंडेरे के॥

यहां महल के ऊंचे मुंडेर पर बैठे हुए चकोरों का चन्द्रमा में से अमृत चूसना कहा गया है। चकोरों का अमृत चूसने से कोई सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बताया गया है। चकोरों में चन्द्र को छूने और अमृतपान करने की योग्यता भी नहीं है।

---

१ ऊँचा २ अमृत।

अतः अयोग्य में योग्यता का भी प्रतिपादन है। अतः यहां पर सम्बन्धातिशयोक्ति है।

(२) पंखुरी लगै गुलाब की, परि है गात खरोट।

यहां गुलाब की पंखुरी लगने से शरीर में खरोट (घाव) पड़ने का प्रतिपादन है। गुलाब की पंखुरी में घाव करने की अयोग्यता नहीं। पर अत्यन्त सुकुमारता प्रकट करने के लिये यहां अयोग्य में योग्यता का सम्बन्ध दिखाया गया है। अतः यहां सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार है।

(३) असम्बन्धातिशयोक्ति

जहां दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध होते हुए भी असम्बन्ध प्रगट किया जाय, या योग्य को अयोग्य बताया जाय।

उदाहरण

(१) मति भारति पंगु भई जो निहारि,
बिचारि फिरी उपमा न पवै॥

राम की सुन्दरता का वर्णन करने में सरस्वती की मति भी पंगु होगई। यहां सरस्वती की मति तो पूर्ण योग्य है, पर अतिशय सौन्दर्य द्योतन के लिये उसको भी पंगु कहा गया है। इस प्रकार योग्य को अयोग्य बताते हुए सम्बन्ध में असम्बन्ध का प्रतिपादन है। इससे यहां असम्बन्धातिशयोक्ति है।

(२) लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आंसू जिमि डारति लता, पीरे पीरे पात॥

यहां शकुन्तला के वियोग में मृगों का घास न खाना, और मयूरों का नाचना छोड़ना तथा लताओं का पीले पत्ते छोड़ना

वर्णन किया गया है। मृगों का घास खाने से सम्बन्ध होते हुए भी सम्बन्ध का प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार मयूरों का नाच से सम्बन्ध होते हुए भी नृत्य परित्याग कहा गया है। इसमें हेतु शकुन्तला के विरह का अतिशय द्योतन करना है। अतः यहां असम्बन्धातिशयोक्ति है।

(४) अक्रमातिशयोक्ति

जहां कारण और कार्य के एक साथ होने का वर्णन हो।

उदाहरण

(१) करि-करुना सुन कृपानिधि, दीनबन्धु जदुनाथ।
चक्र अरु गजफंद दोउ, छोड़े एकहि साथ॥

यहां करि (हाथी) की करुण पुकार सुन कर कृष्ण ने चक्र (कारण) और गजफंद (कार्य) को एक साथ ही छोड़ दिया। अर्थात् ज्योंहि चक्र छोड़ा त्योंहि गजफंद भी छूट गये।

यहां कारण (चक्र) और कार्य (फंद के छूटने) का एक साथ होना प्रगट किया गया है। अतः यहां अक्रमातिशयोक्ति है।

(२) वह शर इधर गांडीव-गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ॥

यहां अर्जुन के बाण का छूटना (कारण) और जयद्रथ के सिर का छिन्न होना (कार्य) एक साथ वर्णन किये गये हैं। अतः यहां अक्रमातिशयोक्ति है।

(५) चपलातिशयोक्ति

जहां कारण के देखने, सुनने या छूने मात्र से कार्य का होना बताया जाय।

उदाहरण

(१) तुलसी सो राम के सरोज-पानी परसत ही,
टूट्यो मानो बोरते पुरारि ही पढ़ायो है ॥

यहां राम के कर-कमलों (कारण) के स्पर्श मात्र से धनुष का टूटना (कार्य) कहा गया है। सो कारण के स्पर्श मात्र से कार्य का होना कहने से चपलातिशयोक्ति है।

(२) तब सिब तीसर नयन उघारा, चितवत काम भयो जरि छारा॥

यहां शिव के तीसरे नेत्र (कारण) को खुला हुआ देखते ही काम जल कर भस्म हो जाना (कार्य) कहा गया है। कारण को देखते ही कार्य के होने से यहां चपलातिशयोक्ति है।

(६) अत्यन्तातिशयोक्ति

जहां कारण से पहले ही कार्य का होना बताया जाय।

उदाहरण

(१) हनुमान की पूँछ में, लगन न पाई आग।
लङ्का सिगरी जरि गई, गये निशाचर भाग ॥

यहां हनुमान की पूँछ में आग लगने (कारण) से पहल ही लंका का जल जाना (कार्य) बताया गया है। कारण से पहले ही कार्य होने से यहां अत्यन्तातिशयोक्ति है।

(२) मित्र सुदामा दान लै, चले सदन सुख पाय।
आय न पहुँचे गैल लौं, सम्पति पहुँची जाय ॥

यहां सुदामा के दान लेकर भवन में पहुँचने (कारण) से

पहले ही सम्पत्ति (कार्य) का वहां पहुँच जाना बताया गया है। अतः यहां अत्यन्तातिशयोक्ति है।

(७) रूपकातिशयोक्ति

जहां उपमेय को न कह कर उपमान का ही वर्णन किया जाय।

उदाहरण

(१) सोभित कमल सनाल पर, पूर्ण-चन्द्र छवि धाम।
तहाँ मीन मुक्ता झरहिं, निरखि रहे घनस्याम॥

राधिका जी कुछ रुष्ट होकर हथेली पर मुख टिकाये बैठी रो रही थीं और कृष्ण उन की ओर देख रहे थे। कवि ने इस उपमेय का वर्णन न करके उपमानों का ही रूपक बांधा है—डण्डी सहित कमल पर पूर्ण चन्द्र विराज रहा है। उस पर मीन मोती झाड़ रहे हैं।

१ राधाजी की कलाई — नाल (कमल की डण्डी)
२ „ का हाथ — कमल
३ „ „ मुख — पूर्ण-चन्द्र
४ „ के नेत्र — मीन
५ „ के आंसू — मोती

यहां उपमेयों का वर्णन न करके उपमानों का ही वर्णन है। इससे रूपकातिशयोक्ति है।

(२) खञ्जन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ताऊ पर इक मनिधर नाग।

खञ्जन के ऊपर धनुष, उसके ऊपर चन्द्रमा, उसके ऊपर एक मनिधर सर्प। यहां उपमान ही वर्णित हैं। इन के उपमेय ये हैं—

खञ्जन—नेत्र। धनुष—भृकुटी। चन्द्रमा—ललाट। काला सर्प—बालों की वेणी। इससे यहां भी रूपकातिशयोक्ति है।

तुल्ययोगिता

जहां अनेक वस्तुओं का धर्म से प्रतिपादन किया जाय, वहां तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है।

तुल्ययोगिता का अर्थ है—जिसमें तुल्य—समानधर्म से योग—सम्बन्ध बताया जाय। इस में प्रस्तुत उपमेयों का उपमेयों के साथ अथवा अप्रस्तुत उपमानों का उपमानों के साथ एक धर्म से कथन किया जाता है।

उदाहरण

(१) जन जड़ता मन मलिनता, बुधि-भ्रमता अघ भाय।
श्रीहरि-पद सुमिरन किये, छन महँ जात नसाय॥

हरिपद का स्मरण करने से जड़ता, मन की मलिनता, बुद्धि का भ्रम और पाप सब क्षण में नष्ट हो जाते हैं।

यहां पर जड़ता, मन मलिनता आदि अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं का एक धर्म से प्रतिपादन किया है और वह एक धर्म है—'ये सब क्षण में नष्ट हो जाते हैं'। इस से यहां तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

(२) श्रीरघुवर के नख चरन, मुख सुखमा सुख खान।
लहै चार फल अछत तनु, देखु धारिक धरि ध्यान॥

यहां श्रीरघुवर के नख, चरण, मुख आदि अनेक उपमेयों का एक धर्म 'सुखमा सुख खान' से प्रतिपादन किया गया है। अतः यहां तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

दीपक

जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत (उपमेय और उपमान) दोनों का एक धर्म से सम्बन्ध कथन किया जाय, वहां दीपक अलङ्कार होता है* ।

दीपक का अर्थ है प्रकाशक। इससे उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म से प्रकाश किया जाता है। जैसे हम कहें—'मुख और चांद दोनों आनन्ददायक हैं'—यहां आनन्ददायक एक धर्म है, जिसका सम्बन्ध उपमेय (मुख) और उपमान (चन्द्र) दोनों से है।

उपमा में उपमेय और उपमान का समान धर्म बताया जाता है—'मुख चन्द्र के समान सुन्दर है' पर दीपक में समानता का भाव प्रकट न कर के दोनों का एक धर्म से सम्बन्ध कथन करते हैं—'मुख और चांद दोनों सुन्दर हैं'।

उदाहरण

(१) फल से सोहत तीर्थ-थल, जल से सोहत कूप।
रस से सोहत सुमन दल, जस से सोहत भूप ॥

यहां भूप प्रस्तुत है और तीर्थ-स्थल, कूप, सुमन-दल आदि उपमान हैं। इन सब का एक धर्म (सोहत) से प्रतिपादन किया गया है। अतः यहां दीपक अलङ्कार है।

(२) संग ते यती, कुमंत्र ते राजा, मान ते ज्ञान, पान ते लाजा।
प्रीति प्रनय बिन, मद तें गुनी, नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥

* वर्ण्य-अवर्ण्यनि को जहाँ, धरम होत है एक।
बरनत हैं दीपक तहाँ, कवि करि विमल विवेक॥ (ललित ललाम)

यहां 'कुमंत्र ते राजा' प्रस्तुत है। इसके साथ 'संग ते यती', 'मान ते ज्ञान', 'पान ते लाजा' (लज्जा) आदि अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्म (नासहिं वेगि) से कथन किया गया है। इससे यहां दीपक अलंकार है।

दीपक और तुल्ययोगिता में भेद--

तुल्ययोगिता में प्रस्तुतों का प्रस्तुतों के साथ या अप्रस्तुतों का अप्रस्तुतों के साथ एक धर्म कथन किया होता है।

दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक साथ एक धर्म कथन किया होता है* ।

प्रतिवस्तूपमा

जहां दो वाक्यों में एक ही धर्म को ऐसे भिन्न शब्दों द्वारा प्रगट किया जाय जिनका अर्थ एक ही हो, वहां प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है|| ।

प्रतिवस्तूपमा में चार बातें होती हैं—

(१) दो वाक्यों का होना आवश्यक है। जिन में से

---

* वस्तुतः तुल्ययोगिता और दीपक को एक ही अलंकार मानना उचित है। इन में भेद इतना कम है कि ये एक ही अलंकार के दो भेद माने जा सकते हैं, पर पृथक् अलंकार नहीं। श्री पंडितराज जगन्नाथ जी की इस विषय में यह सम्मति है—'तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्...। एवं च प्राचीनानां तुल्ययोगितातो पृथगलंकारतामाचक्षाणानां दुराग्रहमात्रमिति नव्याः। (रसगंगाधर)

|| पदसमूह जुग धर्म जहँ, भिन्न पदनि सौं एक।
परगट प्रतिबस्तूपमा, तहँ कवि कहत अनेक ॥ (ललित ललाम)

प्राय: एक उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य होता है। जिस में उपमेय का वर्णन हो, उसे उपमेय वाक्य कहते हैं और जिसमें उपमान का वर्णन हो, उसे उपमान वाक्य कहते हैं।

(२) उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही धर्म का कथन किया जाता है।

(३) एक धर्म का कथन भिन्न शब्दों से किया जाता है।

(४) भिन्न शब्द ऐसे रखे जाते हैं जिनका अर्थ एक ही हो।

उदाहरण

(१) लसत सूर सायक धनुधारी। रवि प्रताप सन सोहत भारी॥

इस में पूर्वार्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्ध उपमान वाक्य है। इन दोनों का एक धर्म है—'शोभायमान होना'। पर वह दोनों वाक्यों में दो भिन्न शब्दों के द्वारा प्रगट किया गया है। पहले में 'लसत' और दूसर में 'सोहत'। इन दोनों भिन्न शब्दों का अर्थ एक ही है। इस से यहां प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।

(२) चटक न छांड़त घटत हू, सज्जन नेह गंभीर।
फीको परै न वरु फटै, रंग्यो चोल रंग चीर॥

इस में 'सज्जन का स्नेह' पूर्वार्ध में उपमेय वाक्य है। 'चोल के रंग से रंगा हुआ वस्त्र' यह उत्तरार्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में एक धर्म है—'कम न होना'। (न सज्जन का स्नेह कम होता है, न चोल रंग ही कम होता है)। इस एक धर्म को एकार्थवाची भिन्न शब्दों के द्वारा प्रगट किया गया है। पहले वाक्य में 'चटक न छांड़त' कहा गया है और दूसरे में 'फीको परै न' कहा गया है। इन दोनों का एक ही अर्थ है। इस से यहां प्रतिवस्तूपमा है।

प्रतिवस्तूपमा और दीपक में भेद—

दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुतों का एक धर्म एक शब्द के द्वारा बताया जाता है।

प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुतों का एक धर्म एकार्थवाची दो भिन्न शब्दों के द्वारा बताया जाता है।

दृष्टान्त

जहां दो वाक्यों में दो भिन्न धर्म बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रगट किये गये हों, वहां दृष्टान्त अलङ्कार होता है*।

दृष्टान्त में एक बात कह कर दूसरी बात उसके उदाहरण के रूप में दी जाती है। इस में भी दो वाक्यों का होना आवश्यक है। पहले वाक्य में प्रस्तुत बात का कथन होता है। दूसरे वाक्य में उसके उदाहरण रूप में कथन होता है।

दोनों बातों में समानता होती है, पर एक धर्म नहीं होता। भिन्न धर्म होने पर भी उन में समानता की झलक मिलती है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का आशय यह है कि जैसे दर्पण में किसी पदार्थ की छाया दिखाई दे, तो वह छाया वास्तव में उस पदार्थ से भिन्न होती है—वह वही पदार्थ नहीं। पर तो भी वह समान सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार जब दो भिन्न वस्तुओं में सादृश्य की झलक सी मिले, तो उसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहते हैं। इस में 'इव', 'सा', 'जैसा' आदि पद नहीं होते। दो पदार्थ एक दूसरे की छाया-प्रतिछाया से प्रतीत होते हैं।

---

* पद समूह जुगधर्म जहँ, जिमि बिम्बहि प्रतिबिम्ब।
सुकवि कहत दृष्टान्त हैं, जे मन दर्पन बिंब ॥ (ललित ललाम)

उदाहरण

(१) पगीं प्रेम नँदलाल के हमें न भावत जोग।
मधुप, राजपद पायकै, भीख न मांगत लोग॥

इस में पूर्वार्ध में प्रस्तुत बात का कथन है और उत्तरार्ध उदाहरण के रूप में दृष्टान्त है। पहले का धर्म है 'जोग न भावत' दूसरे का धर्म है 'भीख न मांगत'।

नन्दलाल कृष्ण के प्रेम में पगे (सने) हुओं को योग अच्छा नहीं लगता। हे उद्धव, राजपद पाकर मनुष्य भीख नहीं मांगता।

यहां दोनों वाक्यों के दो भिन्न धर्म हैं और उन में समानता की केवल झलक है। इससे यहां दृष्टान्त अलङ्कार है।

(२) कन कन जोरे मन जुरै, खाते निबरै सोय।
बूँद बूँद सों घट भरै टपकत रीतो होय॥

यहां पूर्वार्ध में प्रस्तुत बात का कथन है और उत्तरार्ध में उसका दृष्टान्त दिया है। दोनों में 'जुरै' और 'भरै', 'निबरै' और 'रीतो होय' ये भिन्न धर्म हैं, पर इन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से समानता की झलक है।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में भेद

प्रतिवस्तूपमा में उपमेय और उपमान के धर्मों में वस्तु प्रतिवस्तुभाव होता है अर्थात् एक ही धर्म का एक अर्थ वाले दो भिन्न शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है।

दृष्टान्त में उपमेय और उपमान के धर्मों में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। अर्थात् जैसे दर्पण में एक पदार्थ की प्रतिछाया होती है, वैसे ये दोनों धर्म परस्पर भिन्न होते हुए भी

एक दूसरे की छाया और प्रतिछाया के समान प्रतीत होते हैं। वे एक नहीं होते पर एक जैसे दिखाई देते हैं[1]।

निदर्शना

जहां उपमेय और उपमान वाक्यों के अर्थ में परस्पर भेद होते हुए भी अभेद का आरोप किया जाय, वहां निदर्शना अलङ्कार होता है*।

निदर्शना का अर्थ है—निश्चय के बाद सादृश्य का दर्शन। इस में प्रस्तुत वाक्य के अर्थ और अप्रस्तुत वाक्य के अर्थ में निश्चय के बाद सादृश्य का दर्शन (ज्ञान) होता है। ये दोनों वाक्य एक प्रकार से परस्पर निदर्शक और निदर्शित से बन जाते हैं। जैसे हम कहें—'पीड़ित की आह बुरी होती है' यह निदर्शन करती हुई लुहार की खाल (धौंकनी) अपनी आह से लोहे को भस्म कर देती है। यहां 'पीड़ित की आह' और 'लुहार की खाल का लोहे को भस्म करना' इन दोनों में कोई सादृश्य नहीं। पर जब अर्थ का निश्चय हो गया तब सादृश्य प्रतीति हुई कि पीड़ित बकरी को लोहे ने मारा, और पीड़ित बकरी की खाल ने अपनी आह

---

१ वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में इतना कम और सूक्ष्म भेद है कि इन दोनों को एक ही अलंकार के दो भेद मानना उचित है। पृथक् अलंकारत्व के लिये अपेक्षित अन्तर इन में नहीं है। श्रीपंडितराज जगन्नाथ जी का इस विषय में यह मत है'.........एकस्यैवालंकारस्य द्वौ भेदौ प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च। यच्चानयोः किंचिद्वैलक्षण्यं तत्प्रभेदताया एव साधकं नालंकारताया इति सुवचम्'। (रसगंगाधर)

* सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहां एक आरोप।
बरनत तहां निदर्शना, कविजन मति अति ओप। (मतिराम)

(फूंकों) से लोहे को भस्म किया। इस सादृश्य के आरोप के बाद अर्थसंगति लगी कि पीड़ित की आह बुरी होती है। इस में एक वाक्य निदर्शक है और दूसरा निदर्शित।

उदाहरण

(१) आंधी से आपस में लड़ कर आग स्वयं उपजाते हैं,
बाँस-वंश फिर उस से जल कर भस्म शेष हो जाते हैं।
आपस में लड़ने के फल को सब को प्रकट दिखाते हैं,
और दूर रहना दुष्टों से सोदाहरण सिखाते हैं॥

यहां आंधी से रगड़ खाकर बांस के वृक्षों का आग पैदा करना और जल कर मर जाना दूसरों के लिये आपस की लड़ाई के दुष्परिणाम का निदर्शन है। इससे यहां निदर्शना अलङ्कार है।

(२) तजि आसा तन प्रान की, दीपहिं मिलत पतंग।
दरसावत सब नरन को, परम प्रेम को ढंग॥

यहां पतंगे का दीप पर अपने प्राण न्योछावर करना मनुष्यों के लिये सच्चे प्रेम का निदर्शन है। यहां पतंगे का जलना और 'परम प्रेम का ढंग' इन में कोई सादृश्य नहीं। पर निदर्शन रूप में जब हमने पतंगे के जलने में परम प्रेम के सादृश्य का आरोप किया तभी अर्थ संगति लगी। इस से यहां भी निदर्शना अलङ्कार है।

निदर्शना और दृष्टान्त में भेद

दृष्टान्त में उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य परस्पर स्वतन्त्र होते हैं। वहां एक को दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं। उन में सादृश्य स्वयं स्वतन्त्र रूप से झलक रहा होता है। पर

निदर्शना में उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य एक दूसरे के सहारे होते हैं। उन्हें सङ्गत होने के लिये एक दूसरे के अर्थ की अपेक्षा रहती है। बिना एक दूसरे की सहायता के दोनों वाक्य असंगत से जान पड़ते हैं।

दृष्टान्त में अर्थसङ्गति के बाद सादृश्य की झलक मिलती है। निदर्शना में सादृश्य के आरोप के बाद अर्थ सङ्गति होती है।

व्यतिरेक

जहां उपमेय में उपमान से कुछ अधिक उत्कर्ष बताया जाय, वहां व्यतिरेक अलङ्कार होता है*।

व्यतिरेक का अर्थ है—आधिक्य या उत्कर्ष। जहां उपमेय और उपमान में समता न बता कर उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष (नीचापन) या हीनता दिखाई जाय, वहां व्यतिरेक अलङ्कार होता है।

उदाहरण

(१) सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन, पै कहत न जाना।।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुःख द्रवैं सुसन्त पुनीता।।

यहां सज्जनों के हृदय को मक्खन के समान कोमल कह कर उत्तरार्ध में उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष प्रगट किया है।

उपमेय—सज्जन हृदय। उपमान—नवनीत।

उपमेय का उत्कर्ष—सज्जनों का हृदय दूसरे के सन्ताप से पिघल जाता है।

---

* जहँ होत उपमान तें, उपमेय मैं विसेख।
तहाँ कहत व्यतिरेक हैं, कबिजन मति उल्लेख॥ (ललित ललाम)

उपमान का अपकर्ष—नवनीत अपने ही सन्ताप से पिघलता है।

(२) झुरस जात, झर जात है, कंटक अधिक न आव।
तुव पग पटतर किमि लहहिं, यह जड़ मंद गुलाब॥

यहां 'चरण' उपमेय है और 'गुलाब' उपमान है।

गुलाब शीघ्र ही कुम्हला जाता है, झड़ जाता है, उस में कांटे भी हैं, वह देर तक शोभायुक्त नहीं रहता और जड़ निर्बुद्धि भी है। 'चरण' पटुतर है, कुम्हलाता नहीं, झड़ता नहीं, सदा एकसा सुन्दर रहता है, इसमें कांटे भी नहीं। इस प्रकार यहां उपमेय के आधिक्य और उपमान की हीनता का वर्णन है। इस से यहां व्यतिरेक अलङ्कार है।

व्यतिरेक और उपमा में भेद

उपमा में उपमेय और उपमान की समता (बराबरी) कथन की जाती है। पर व्यतिरेक में उपमेय से उपमान की हीनता बताई जाती है। 'मुख कमल के समान है' यह उपमा है। 'कमल की शोभा तो केवल दिन में है, पर मुख दिन रात शोभायुक्त रहता है' यह व्यतिरेक है।

समासोक्ति

जहां विशेषणों की समानता आदि के कारण प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत वर्णन की प्रतीति हो, वहां समासोक्ति अलङ्कार होता है*।

समासोक्ति का अर्थ है—प्रस्तुत और अप्रस्तुत को समास—इकट्ठे—सांझे—समान विशेषणों से कहना।

---

* जहँ प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत का ज्ञान।
समासोक्ति तहँ कहत हैं, कविजन परम सयान॥ (मतिराम)

कवि जिस विषय का वर्णन कर रहा हो, उसे प्रस्तुत वर्णन कहते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप समासोक्ति का मूललक्षण है। इसमें प्रस्तुत के वर्णन में ऐसे शब्द और विशेषण रखे जाते हैं, जिनसे अप्रस्तुत का भान होता है। जैसे कोई कहे—'शाम को चन्द्रोदय देख कर कुमुदिनी प्रसन्न हो जाती है'। यहां प्रस्तुत तो है चन्द्रमा को देख कर कुमुदिनी का खिलना, पर 'देख कर', 'प्रसन्न हो जाती है' आदि ऐसे शब्द हैं जिन से यह झलक निकलती है कि सायंकाल को अपने पति को बाहर से आते देख कर एक पतिव्रता स्त्री प्रसन्न हो जाती है। यहां प्रस्तुत कुमुदिनी में अप्रस्तुत पतिव्रता के व्यवहार का समारोप किया गया है। यह समासोक्ति है। इस में श्लेष का पुट लगा देने से चमत्कार और भी बढ़ जाता है।

उदाहरण

(१) चंप लता सुकुमार तूं, धन तुव भाग्य बिसाल।
तेरे ढिग सोहत सुखद, सुंदर स्याम तमाल॥

काले तमाल वृक्ष से लिपटी हुई चंपे की लता को देख कर कवि कहता है कि—हे चम्पलता तू बड़ी कोमल है, तू धन्य है, तेरा भाग्य बहुत विशाल है, जो तेरे पास सुखदायक और सुन्दर श्याम तमाल शोभा दे रहा है।

इस प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत 'राधाजी' की झलक मिलती है। विशेषण भी समानता से घट जाते हैं—हे राधे तू बड़ी सुकुमार है, तू धन्य है, तेरे भाग्य भी बड़े हैं जो तेरे पास सुन्दर सुखद श्याम तमाल (कृष्ण) शोभा दे रहे हैं।

इस प्रकार यहां प्रस्तुत में समान विशेषणों के द्वारा अप्रस्तुत

के व्यवहार का आरोप किया गया है। इससे यहां समासोक्ति अलङ्कार है।

(२) सहृदय जन के जो, कण्ठ का हार होता,
मुदित मधुकरी का, जीवनाधार होता।
वह कुसुम रँगीला, धूल में जा पड़ा है,
नियति ! नियम तेरा, भी बड़ा ही कड़ा है॥

यहां प्रस्तुत दलित कुसुम के वर्णन में किसी अप्रस्तुत की अकाल मृत्यु के व्यवहार का आरोप किया गया है। विशेषण ऐसे हैं जो दोनों में समान रूप से घट सकते हैं। इस से यहां समासोक्ति है।

समासोक्ति का अन्य अलङ्कारों से भेद

उपमा—में दो पदार्थों की समानता बताई जाती है। एक पदार्थ दूसरे के समान है। पर समासोक्ति में एक पदार्थ के व्यवहार का दूसरे पदार्थ में आरोप किया जाता है।

रूपक—में प्रकृत में अप्रकृत के 'स्वरूप' का आरोप होता है।

निदर्शना—में निदर्शन के रूप में 'सादृश्य' का आरोप होता है।

समासोक्ति—में प्रकृत में अप्रकृत के 'व्यवहार' का आरोप होता है।

समासोक्ति में प्रस्तुत कथित (वाच्य) होता है और अप्रस्तुत गम्य रहता है।

अर्थश्लेष

जहां स्वभावतः एकार्थवाची शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों का कथन किया जाय, वहां अर्थश्लेष अलङ्कार होता है।

अर्थश्लेष में एक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है। दो अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग में शब्दश्लेष होता है। शब्दश्लेष में अलङ्कार का चमत्कार शब्दों पर आश्रित होता है, पर अर्थ-श्लेष में चमत्कार अर्थ में रहता है। शब्द श्लेष में शब्द बदले नहीं जा सकते। अर्थ श्लेष में शब्दों को बदल सकते हैं।

अर्थ-श्लेष में एक अर्थ वाले शब्दों से दो (या इस से अधिक) अर्थ निकाले जाते हैं। और ये दोनों अर्थ प्रकरण में अपेक्षित होते हैं।

उदाहरण

रंचहि सों ऊंचे चढ़ै, रंचहि सों घट जाहिँ।
तुला-कोटि खल दुहुन की, सदृश रीति जग माहिँ॥

यहां तुला की कोटि और दुष्ट मनुष्य दोनों प्रकृत हैं। इन दोनों की सदृश रीति एक अर्थ वाले शब्दों से बताई गई है— 'थोड़े से ही ऊपर चढ़ जाते हैं और थोड़े से ही नीचे झुक जाते हैं'। इन में सब शब्द एकार्थवाची हैं, पर दोनों के पक्ष में दो अर्थ लगते हैं। तुला की कोटि तुला में थोड़ा सा कुछ डालने से ऊपर चढ़ जाती है और थोड़ा सा निकालने पर झुक जाती है। दुष्ट पुरुष भी थोड़ा सा धन मान आदि मिलने से अभिमान में आ जाते हैं और थोड़ी सी हानि में बिलकुल नीचे हो जाते हैं।

यहां 'रंचहि सों ऊँचे चढ़ै' इत्यादि के स्थान में थोड़े से ही ऊपर उठें' इत्यादि शब्द बदल देने से भी अलंकार में अन्तर नहीं आता। इसी से यहां अर्थश्लेष है।

श्लेष और समासोक्ति में भेद

श्लेष में दोनों अर्थ प्रकरण में अपेक्षित (वाच्य—या कथित)

होते हैं। समासोक्ति में दोनों अर्थ अपेक्षित (कथित) नहीं होते। एक अर्थ प्रस्तुत में अपेक्षित होता है, दूसरा गम्य रहता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

जहां अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत के वर्णन की प्रतीति हो, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है*।

अप्रस्तुत-प्रशंसा के अर्थ हैं—अप्रस्तुत का वर्णन। यहां प्रशंसा का अर्थ वर्णन का है स्तुति का नहीं। यह समासोक्ति से उल्टा है। समासोक्ति में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का वर्णन होता है। यहां अप्रस्तुत में प्रस्तुत का वर्णन होता है।

उदाहरण

(१) जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीति बहार।
अलि ! अब रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥

यहां अप्रस्तुत भ्रमर से कहा गया है—हे भ्रमर जिन दिनों तुम ने वे फूल देखे थे, वे बहार के दिन अब बीत गये। अब तो गुलाब में पत्र-रहित काँटों वाली डंडी ही शेष रह गई है।

यहां अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है कि अब वे अच्छे सुख समृद्धि या यौवन के दिन नहीं रहे। अब तो कोई आकर्षण शेष नहीं रहा—इत्यादि।

(२) सहि अपमान जु रहत चुप, ता नर सों वर धूरि।
जो पादाहत भट उठत, चढ़त हतक सिर पूरि॥

---

* जहँ अप्रस्तुत कथन से, प्रस्तुत लक्षित होय।
तहँ अप्रस्तुत प्रशंसा, बरनत हैं कवि लोय॥ (बिहारी०)

यहां अप्रस्तुत का वर्णन है—'पादाहत धूलि भी सिर पर चढ़ जाती है। वह मनुष्य जो अपमान सह कर चुप रहे धूलि से भी निकम्मा है'। इसमें प्रस्तुत की प्रतीति होती है कि हम धूलि से भी निकम्मे हैं, जो अपमान सह रहे हैं। इस से यहां अप्रस्तुत-प्रशंसा है।

नोट—कई आचार्य 'अन्योक्ति' नाम का एक पृथक् अलंकार मानते हैं। पर वह वस्तुतः अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। (अप्रस्तुत=अन्य, प्रशंसा=उक्ति) यहां प्रशंसा पद का अर्थ 'वर्णन' है, स्तुति नहीं है। इस प्रकार अन्योक्ति इसी का एक भेद मात्र है।

अर्थान्तरन्यास

जहां किसी सामान्य बात से विशेष बात का, या विशेष बात से सामान्य बात का समर्थन किया जाय, वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है*।

जो बात किसी विशेष प्रकरण या ख़ास व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है, वह 'विशेष बात' कही जाती है और जिस का सम्बन्ध किसी खास प्रकरण या ख़ास व्यक्ति से नहीं अपितु जो सब पर चरितार्थ होती है, उसे 'सामान्य बात' कहते हैं। जैसे कहें—'महात्मा गांधी ने देश के लिये बहुत दुःख सहे हैं' तो यह विशेष बात है, क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष (महात्मा गांधी) से है। फिर यदि कहें—'दूसरों के लिये कष्ट सहना महापुरुषों का स्वभाव ही है'—तो यह सामान्य बात हुई—क्योंकि इसका सम्बन्ध

* जहँ सामान्य विशेष को, करै समर्थन अर्थ।
है अर्थान्तरन्यास कहि, अर्थहिं उलट समर्थ॥ (पद्माभरण)

किसी ख़ास व्यक्ति से नहीं। यह सर्व-साधारण, सर्व-सामान्य और सब पर लागू होने वाली बात है। अर्थान्तरन्यास में कभी कभी किसी ख़ास प्रकरण में कही हुई ख़ास बात का समर्थन सामान्य बात से करते हैं और कभी कभी 'सामान्य बात' का समर्थन प्रकरणगत विशेष बात से करते हैं। इस आधार पर इसके दो भेद होजाते हैं।

(१) सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन।

(२) विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन।

उदाहरण

प्रथम भेद—

(१) तब उनका सर्वस्व जुए में, हरना उसने ठीक किया।
कार्याकार्य विचार न करता, स्वार्थीजन का मलिन हिया॥

दुर्योधन ने द्यूत में पाण्डवों के सर्वस्व हरण करने का निश्चय किया। यह विशेष बात ख़ास व्यक्ति दुर्योधन के सम्बन्ध में ख़ास प्रकरण में कही गई। अब इसको सामान्य बात के द्वारा पुष्ट किया है कि स्वार्थियों का मलिन हृदय कार्य और अकार्य का विचार नहीं करता। दुर्योधन ने द्यूत में पाण्डवों के सर्वस्व हरण का निश्चय क्यों किया—यह प्रश्न उक्त विशेष बात पर होता है। उसका उत्तर सामान्य बात से दे दिया जो सब पर लागू होती है कि स्वार्थियों का मलिन हृदय भले बुरे का विचार नहीं करता, इस प्रकार यहां पर—

द्यूत में पाण्डवों के सर्वस्व हरण का निश्चय—यह विशेष बात है। स्वार्थीजन का मलिन हृदय कार्याकार्य का विचार नहीं करता—यह सामान्य बात है। यहां सामान्य के द्वारा विशेष की पुष्टि हुई है। इससे यहां प्रथम अर्थान्तरन्यास है।

(२) अपने हत विधि की ही निन्दा की उसने रो रो कर।
सतियां पति को नहीं कोसतीं परित्यक्त भी होकर ॥

यहां शकुन्तला का रो रो कर अपने भाग्य को ही कोसना विशेष बात है। इसका समर्थन अगली सामान्य बात से हुआ कि—सतियां परित्यक्त होकर भी पति को नहीं कोसतीं। इस से यहां प्रथम अर्थान्तरन्यास है।

द्वितीय भेद—

(१) करम गति टारै नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी, सोध के लगन धरी।
सीता हरन, मरन दशरथ को, बन में विपति परी ॥

यहां 'करम गति टारै नाहिं टरी' यह सामान्य बात है जो सर्वत्र लागू होती है और इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष या प्रकरण विशेष से नहीं है। इस सामान्य बात का समर्थन नीचे की विशेष बात से किया गया है—वसिष्ठ जैसे ज्ञानी ने मुहूर्त शोध कर राम और सीता का विवाह कराया, पर परिणाम में वनगमन, पिता की मृत्यु और सीता-हरण आदि दुःख हुए। सो यहां 'करम गति टारै नाहिं टरी' इस सामान्य बात का उक्त विशेष बात से समर्थन हुआ है। अतः यहां द्वितीय अर्थान्तरन्यास है।

(२) सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ॥

यहां—सबल के सब सहायक हैं, निर्बल का सहायक कोई नहीं—यह सामान्य बात है। पवन सबल आग को बढ़ाती है, पर

निर्बल आग (दीप) को बुझा देती है—यह विशेष बात है। सामान्य बात को विशेष बात पुष्ट करती है। इससे यहां द्वितीय अर्थान्तरन्यास है।

अर्थान्तरन्यास का अन्य अलङ्कारों से भेद

अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशंसा में—

अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य और विशेष दोनों का कथन नहीं होता। एक का कथन होता है और दूसरा व्यञ्जित रहता है।

अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष दोनों का कथन होता है। यही बात समासोक्ति पर भी लागू होती है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त में—

दृष्टान्त में दोनों वाक्यों में परस्पर सादृश्य को झलक सी मिलती है। उन में सामान्य-विशेष-सम्बन्ध नहीं होता। अर्थान्तरन्यास में दोनों में एक सामान्य होगा तो दूसरा विशेष। दृष्टान्त के दोनों वाक्यों में कोई किसी को पुष्ट नहीं करता। उन में समर्थ्य-समर्थक भाव नहीं होता। अर्थान्तरन्यास में एक बात दूसरी को पुष्ट करती है। उनमें एक समर्थक है और दूसरी समर्थ्य।

दृष्टान्त में उपमेय-उपमान भाव का बिम्ब-प्रतिबिम्ब होता है, पर अर्थान्तरन्यास में उपमेय-उपमान भाव स्फुट रूप से व्यक्त नहीं होता। यहां समर्थ्य-समर्थक भाव ही प्रधान होता है।

पर्यायोक्ति

जहां कोई बात सीधे शब्दों में न कह कर व्यंग्य से घुमा

फिरा कर कही जाय, या किसी बहाने से इच्छित कार्य के साधन का वर्णन हो वहां पर्यायोक्ति अलंकार होता है* ।

पर्यायोक्ति का अर्थ है पर्याय से—प्रकारान्तर से बात का कहना । सीधी बात न कह कर प्रकारान्तर से बात करना । जैसे 'आप हमारे घर आइये' यह सीधा न कह कर 'आप हमारे घर को पवित्र कीजिये', 'अलंकृत कीजिये' इत्यादि कहना प्रकारान्त से कहना है । जैसे—शकुन्तला के प्रथम अंक में अनसूया दुष्यन्त से यह पूछना चाहती है कि तुम कौन हो, कहां से आये हो और क्यों आये हो । वह इस बात को प्रकारान्तर से यों पूछती है—

"तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहां पधारे हो ? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस तपोबन में आकर पीड़ित किया है" ।

यहां तुम कौन हो ? यह प्रश्न—'तुम किस राजवंश के भूषण हो'—इस प्रकार किया गया । तुम कहाँ से आये हो ? यह प्रश्न—'तुमने किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ा है' ?—इस प्रकार किया गया । तुम क्यों आये हो, यह प्रश्न—'क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस तपोबन में आकर पीड़ित किया है'—इस प्रकार किया गया है । यही पर्यायोक्ति है ।

पर्यायोक्ति के भेद

पर्यायोक्ति के दो भेद हैं—(१) जहां व्यङ्गय से काम लिया जाय । (२) जहां किसी छल या बहाने से काम लिया जाय ।

---

* गम्य अर्थ प्रगटै तहाँ, और बचन रचनानि ।
बरनत पर्यायोक्ति तहँ, कविजन ग्रन्थन जानि ॥
जहाँ कपट सौं करत है, रुचिर मनोरथ काज ।
बरनत पर्यायोक्ति तहँ, दूजी सुकवि समाज ॥ (ललित-ललाम)

उदाहरण

प्रथम भेद—

सीता हरन तात जनि, कहहु पिता सन जाय।
जु मैं राम तो कुल सहित, कहहि दसानन आय ॥

यहां राम जटायु से कहते हैं कि तुम स्वर्ग में जा रहे हो। सीताहरण की बात मेरे पिता जी से न कहना। क्योंकि यदि मैं राम हूँ तो शीघ्र ही रावण स्वयं अपने कुल-परिवार सहित यह खबर आकर सुनाएगा।

यहां राम का अभिप्राय यह है कि मैं रावण को उसके कुल सहित मार दूंगा। इस बात को राम ने व्यङ्ग्य से कहा कि रावण कुल सहित आकर स्वयं सुना देगा—अर्थात् मैं रावण को मार कर स्वर्ग भेज दूंगा।

दूसरा भेद—

(१) नाथ लखन पुर देखन चहहिं।प्रभु सँकोच डर प्रगट न कहहिं॥
जो राउर अनुसासन पाऊं नगर दिखाय तुरत लै आऊं ॥

राम को जनकपुरी देखने का चाव था। वे विश्वामित्र से इस विषय में बहाना बना कर आज्ञा मांगते हैं—'महाराज लक्ष्मण को शहर देखने का बड़ा चाव है, पर वह सङ्कोच और डर के कारण आप से कुछ नहीं कहता। यदि आप आज्ञा दें तो मैं उसे शहर दिखा लाऊं'।

यहां राम ने लक्ष्मण को दिखाने के बहाने से स्वयं देखने का भाव प्रगट किया है।

(२) भूखे है मृगबाल, ढूँढत हैं निज माय को।
चलौ सखी उठि हाल, दीजै तिनहिं मिलाय अब ॥

यहां शकुन्तला की दोनों सखियां उसे दुष्यन्त के पास अकेली छोड़ना चाहती हैं। वे वहां से उठने के लिये यह बहाना बनाती हैं।

व्याजस्तुति

जहां निन्दा के बहाने से स्तुति की जाय, या स्तुति के बहाने से निन्दा की जाय, वहां व्याजस्तुति अलङ्कार होता है*।

व्याजस्तुति का अर्थ है—बहाने से वर्णन करना। जहां शब्दों से निन्दा प्रतीत हो, पर वास्तव में स्तुति हो, या जहां शब्दों से स्तुति प्रतीत हो, पर वास्तव में निन्दा हो, वहां व्याजस्तुति होती है। इस प्रकार व्याजस्तुति के दो भेद हो जाते हैं।

(१) व्याजस्तुति—जहां शब्दों से निन्दा प्रगट हो, पर वास्तव में स्तुति हो।

(२) व्याजनिन्दा—जहां शब्दों से स्तुति प्रगट हो, पर वास्तव में निन्दा हो।

व्याजस्तुति—

(१) जमुना तू अविवेकिनी, कौन लियो यह ढंग।
पापिन सों निज बंधु को, मान करावत भंग ॥

यमुना का भाई है—धर्मराज। वह पापियों को घोर नरक का दण्ड देना चाहता है। पर यमुना उनके पाप हरण कर लेती है। इस

---

* निन्दा में स्तुति पाइए, स्तुति में निन्दा होय।
व्याजस्तुति सो कहत हैं, कविकोविद सब कोय ॥ (मतिराम)

से धर्मराज की व्यवस्था बिगड़ती है और उस का मान भङ्ग होता है। इस से कहा गया कि—'यमुना तू तो बड़ी बेसमझ है। तू पापियों के द्वारा अपने ही भाई की मान-हानि करवाती है'।

यहां देखने में शब्दों से यमुना की निन्दा प्रगट होती है। पर वास्तव में पापियों का उद्धार और पापों का नाश करने से स्तुति का वर्णन है। इस से व्याजस्तुति है।

(२) कासीपुरी की कुरीति बुरी,
जहँ देह दिये पुनि देह न पावत।

यहां 'काशी शहर की रीति बुरी है, जहां देह देने से फिर देह वापिस नहीं मिलती' इन निन्दा के शब्दों से काशी की स्तुति की गई है कि काशी में मरने से मुक्ति प्राप्त होती है।

व्याज-निन्दा—

(१) नाक कान बिनु भगिनी निहारी,
छमा कीन्ह तुम धर्म विचारी।
धर्म-सीलता तव जग जागी,
पावा दरस हमहुँ बड़भागी॥

यहां अंगद रावण से कहता है कि—तुम पूर्ण-धर्म-व्रतचारी हो। छमा धर्म तो तुम में इतना है कि अपनी बहिन (शूर्पणखा) को नाक कान विहीन देख कर भी तुम ने छमा कर दिया। (कायरता!) तुम्हारी धर्म-सीलता तो संसार में प्रसिद्ध है। हमारे बड़े भाग जो आज आपके दर्शन हुए।

यहां स्तुति के शब्दों में निन्दा की गई है अतः यहां व्याजनिन्दा है।

(२) धन्य कीस जो निज-प्रभु-काजा, जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा
नाच-कूद कर लोक-रिझाई, पति-हित करत धर्म-निपुणाई ॥

रावण अङ्गद से कहता है—'तुम बन्दर धन्य हो, तुम्हारी प्रभु भक्ति भी सराहनीय है, जो लज्जा छोड़कर प्रभु के लिये जहां तहां नाचते हो। नाचकूद कर लोगों को रिझाते हो और अपने मालिक के लिये धर्म और चतुरता के काम करते हो,। यहां स्तुति के शब्दों में बन्दरों की निन्दा की गई है। यहां भी व्याजनिन्दा है।

आक्षेप

जहां किसी अभिमत बात के बलपूर्वक विधान करने के लिये निषेध सा किया जाय, या किसी अनभिमत बात के प्रबल निषेध के लिये विधान सा किया जाय, वहां आक्षेप अलंकार होता है *।

आक्षेप का अर्थ है 'बीच में पड़ना', 'बाधा डालना', 'कोई एतराज करना'। जहां हम किसी बात में कोई बाधा डालना चाहें या उसकी मनाही करना चाहें, वहां हम आक्षेप करते है। विशेष चमत्कारपूर्ण ढंग से यदि यह प्रगट किया जाय तो आक्षेप अलंकार बन जाता है। जैसे कोई कहे कि 'यह कार्य मैं करूंगा'। अब यदि हमें उसका वह काम अभीष्ट नहीं है तो हम उसकी मनाही करने के लिये कई ढंग से विधान सा करेंगे—'हां भाई कर लो, मैं कब मना करता हूँ'। 'जो तुम्हारी समझ में आये तुम करो'। 'हां कर लो, तुम्हारे साथ कुछ कहने सुनने का लाभ थोड़े ही है, इत्यादि व्यंग पूर्ण बातों को आक्षेप कहते हैं।

---

* जहां कही निज बात कौं, समुझि करत प्रतिषेध।
तहां कहत आक्षेप हैं, कबिजन मति उरलेख ॥ (मतिराम)

उदाहरण

(१) अथवा तेरी हत-कथा, कथन न उचित कदापि।

यहां अपने शत्रु की अत्यन्त बुराई अभिमत है पर उसका विधान, निषेध के रूप में किया गया है, कि 'तुम्हारे पापों को तो कहना भी उचित नहीं है,'। इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारे चरित अत्यन्त काले और पापपूर्ण हैं। उनको कहना भी ठीक नहीं। सो यहां निषेध से रूप में अभिमत बात का प्रतिपादन किया गया है।

(२) सुख सों पीय सिधारिये, पग-पग होय कल्यान।
हौं हूँ जनमौंगी तहां, तुव जिहि देस पयान॥

अपने पति को देशान्तर जाते हुए देख कर कोई पतिव्रता स्त्री उसे जाने से मना करना चाहती है। वह सीधे रूप में मना नहीं करती। कहती है—'हे प्रिय आप सुख से जाइये। पग-पग में आपका कल्याण हो। परमात्मा मुझे भी वहीं जन्म दे जिस देश में आप जारहे हैं।

यहां यदि आप गये तो मैं मर जाऊंगी, इस से आप न जाइये इस अभिप्राय को आक्षेप के द्वारा सूचित किया गया है। यहां अनभिमत बात (पति का जाना) का प्रबल निषेध, विधान (सुख से जाइये) के रूप में किया गया है। अतः यहां आक्षेप अलंकार है।

(२) विरोधमूलक अर्थालंकार

विरोधाभास

जहां वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध सा प्रतीत हो, वहां विरोधाभास अलंकार होता है।

विरोधाभास का अर्थ है—विरोध की तरह दिखाई देने वाला। विरोधाभास में वस्तुतः विरोध नहीं होता, पर विरोध सा दिखाई देता है।

उदाहरण

(१) बैन सुन्यो जब तें मधुर, तब तें सुनत न बैन।
नैन लगे जब ते लखो, तब ते लगत न नैन॥

यहां 'बैन सुन्यो' और 'सुनत न बैन' में तथा 'नैन लगे' और 'लगत न नैन' में विरोध दिखाई देता है। पर वास्तव में विरोध नहीं है। जब से भक्त ने श्री कृष्ण के मधुर वचन सुने हैं तब से उनके प्रेम में मुग्ध होने के कारण वह और कोई बात सुनता ही नहीं, और जब से श्रीकृष्ण के दर्शन हुए हैं, तब से उनके विरह में (लगत न नैन) नींद नहीं आती। इस प्रकार विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति होती है।

(२) काव्य कला साहित्य सें, बिमुख यहै जग मांहिं।
जे नहिं हैं, ते हैं सही, जे हैं, ते हैं नाहिं॥

यहां 'जे नहिं हैं, ते हैं' और 'जे हैं, ते हैं नाहिं' में विरोध

---

* जहँ विरोध सों लगत है, होत न सांच विरोध।
कहत विरोधाभास तहँ, बुधजन बुद्धि बिबोध॥ (ललित ललाम)

दिखाई देता है। पर वास्तव में विरोध नहीं है। काव्य कला और साहित्य से जो विमुख नहीं हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, और जो विमुख हैं, वे पुरुष नहीं, पशुतुल्य हैं।

विभावना

जहां किसी कार्य के कारण के सम्बन्ध में कोई विलक्षण (उलटी) कल्पना की जाय, वहां विभावना अलंकार होता है*।

प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। इस साधारण नियम के विरुद्ध यदि कारण के बिना, या अपर्याप्त कारण से, या अयोग्य या विरोधी कारण से कार्य की उत्पत्ति कही जाय, तो वहां विभावना अलंकार होता है।

उदाहरण

(१) बिना पान अधरान पै, लाली लहत प्रकास।

ओठों की लाली (कार्य) का कारण 'पान' खाना है। पर यहां कारण के बिना ही कार्य होगया है।

(२) ऐसे ही नीके लगैं, बिन काजर के नैन।

नेत्रों की सुन्दरता (कार्य) का कारण काजल है, पर यहां बिना ही कारण (काजल) के नैन सुन्दर हैं।

विभावना के भेद

कार्य के कारण की विलक्षण कल्पना के आधार पर विभावना के छः भेद हैं—

---

* करैं विलच्छन कल्पना, जहां कारन सम्बन्ध।
तिहि विभावना कहत हैं, जे कवि रचत प्रबन्ध॥ (सा० सा०)

(१) प्रथम विभावना—जहां बिना कारण के कार्य हो जाय।
(२) द्वितीय विभावना—जहां अपर्याप्त या अपूर्ण कारण से कार्य हो जाय।
(३) तृतीय विभावना—जहां प्रतिबन्ध होने पर भी कार्य हो जाय।
(४) चतुर्थ विभावना—जहां कार्य की उत्पत्ति ऐसे अयोग्य कारण से हो जो उस कार्य का कारण बनने की क्षमता नहीं रखता।
(५) पञ्चम विभावना—जहां विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो।
(६) षष्ठ विभावना—जहां उलट होकर कार्य से कारण की उत्पत्ति का कथन किया जाय।

उदाहरण

प्रथम विभावना

जहां बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति हो।

(१) लाज भरी अँखियां बिहँसी बलि, बोल कहें बिन उत्तर दीनौं।

यहां 'उत्तर दीनों' यह कार्य है। इसका कारण है 'बोलना'। बोल कर ही उत्तर दिया जाता है। पर यहां 'बोल कहें बिन' से कारण का निषेध करके कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति कथन की है।

(२) साहि-तनै सिवराज की, सहज टेव यह ऐन।
अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे अरि-सैन॥

यहां 'दारिद हरै' कार्य है। इसका कारण है प्रसन्न होना। पर यहां 'अनरीझे' कह कर कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति कही है। इसी प्रकार 'अरि-सैन हरै' कार्य है। इसका कारण है

'खीझना'। पर 'अनखीझे' कहने से कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति कही है। अतः यहां प्रथम विभावना है।

द्वितीय विभावना

जहां अपर्याप्त कारण से कार्य की उत्पत्ति हो।

(१) काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हें।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥

यहां 'सकल भुवन अपने बस कीन्हें' कार्य है। इसका कारण होना चाहिये—कोई बड़ा पक्का और दृढ़ धनुष। पर काम ने फूलों के धनुष-बाण से ही सब को वश में कर लिया। फूलों के धनुष-बाण सकल भुवन को वश करने में अपर्याप्त या अपूर्ण कारण हैं।

(२) एक नाम नंद-नंद को, हरत हजारन पाप।

यहां हजारों पापों को नष्ट करने (कार्य) के लिये नंद-नंदन का एक नाम (कारण) अपर्याप्त सा दीखता है।

तृतीय विभावना

जहां प्रतिबन्ध होने पर भी कार्य हो जाय।

(१) तुव प्रताप सावंत नृप, तेज तरल दरसात।
सेवत अरि तरु छाँह घन, तऊ तपत दिन रात।

सावन्तसिंह नृप का तेज (घरबार छोड़ कर भागे हुए और वृक्षों की छाया में बैठे हुए शत्रुओं को भी दिन रात तपाता रहता है। तेज का काम है तपाना। तपाना कार्य है और तेज कारण है। पर वृक्षों की घनी छाया में तेज नहीं तपा सकता। कारण को कार्य उत्पन्न करने में 'तरु छाँह' प्रतिबन्ध है। पर प्रतिबन्ध होने पर भी 'तपाना' रूप कार्य की उत्पत्ति हो गई।

(२) विपदा हू में होय के, पर दुख हरत महान।

महापुरुषों का काम है पराया दुःख हरना । पर इस में प्रतिबन्ध है कि वे स्वयं विपत्ति में हैं । यहां प्रतिबन्ध के होते हुए भी कार्य (पर दुःख हरण) की उत्पत्ति कथन की गई है।

चतुर्थ विभावना

जहां अयोग्य कारण से कार्य की उत्पत्ति हो।

(१) फूली चम्पक बेलि ते, झरत चमेली फूल।

यहां 'चमेली फूल का झड़ना' कार्य है। इस का कारण हो सकता है चमेली की बेल । पर यहां कवि ने चम्पक बेल से चमेली फूल का झड़ना कथन किया है । यहां ऐसे कारण का कथन किया गया है जिस में उस कार्य के सम्पादन की योग्यता नहीं है।

(२) चंप लता से उड़ि रही, गहव गुलाब सुबास ।
रैन अमावस से लखौ, प्रगट्यो परत प्रकास ॥

यहां 'गुलाब की सुगन्धि का उड़ना' और 'प्रकाश का प्रकट होना' कार्य हैं। इनके कारण बताये गये है—'चंप लता' और 'अमावस की रात'। इन कारणों में उक्त कार्यों के सम्पादन की क्षमता नहीं है, पर कवि ने कथन कर दी है।

पञ्चम विभावना

जहां विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो।

(१) सीतल चन्दन चंद हूं, लगे जरावन गात।

यहां 'गात जलाना' कार्य है । उसका कारण हो सकता है

आग। पर यहां कथन किया गया है—'चन्दन' और 'चांद', जो शीतल हैं और 'जलाने' के कार्य के विरोधी कारण हैं।

(२) तेरा होना उदय व्रज में, तो अँधेरा करेगा।

यहां 'अंधेरा' कार्य है, उसका कारण होना चाहिये सूर्यास्त। पर यहां विरुद्ध कारण—'सूर्य का उदय होना' बताया गया है।

षष्ठ विभावना

जहां कार्य से कारण की उत्पत्ति कथन की जाय।

(१) उपज्यौ तौ मुख-इन्दु तें, प्रेम-पयोधि अपार॥

चन्द्रमा समुद्र से उत्पन्न हुआ है। समुद्र कारण है और चन्द्र कार्य है। पर यहां कवि कहता है कि—'तेरे मुखरूपी चन्द्र से प्रेम रूपी समुद्र उत्पन्न हुआ है'। इस से यहां कार्य (चन्द्र) से कारण (समुद्र) की उत्पत्ति बताई गई है।

(२) तुव कृपान धुव धूम तें, भयो प्रताप कृसानु॥

अग्नि से धुआं पैदा होता है। अग्नि कारण है और धूम कार्य है। पर यहां 'कृपान धुव धूम' से प्रताप की अग्नि का पैदा होना लिखा है। कार्य (धूम) से कारण (अग्नि) की उत्पत्ति कथन की है।

द्वितीय, चतुर्थ और पञ्चम विभावना में भेद

द्वितीय विभावना में अपर्याप्त या अपूर्ण कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। वह कारण वास्तव में उस कार्य का ही कारण होता है, पर अपूर्ण होता है।

चतुर्थ विभावना में अयोग्य कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। वहां जो कारण होता है, वह वास्तव में उस कार्य का

कारण नहीं होता। अन्य कार्य के कारण से अन्य कार्य की उत्पत्ति कथन की जाती है।

पञ्चम विभावना में विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। वहां जो कारण कथन किया जाता है, वह वस्तुत: उस कार्य का विरोधी होता है। चतुर्थ में विरोधी नहीं होता, अन्य होता है।

विभावना और विरोधाभास में भेद

विभावना में कारण के बिना, या अपूर्ण या अयोग्य या विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। इस में 'कारण का विरोध' मूल है, पर विरोधाभास में दो पदार्थ परस्पर विरुद्ध से दीखते हैं, पर वास्तव में विरुद्ध होते नहीं।

विशेषोक्ति

जहां कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो, वहां विशेषोक्ति अलङ्कार होता है*।

विशेषोक्ति का अर्थ है—किसी विशेष बात का कहना। यह साधारण नियम है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। जहां कारण-सामग्री विद्यमान होगी, वहां वह कार्य को अवश्य पैदा करेगी। आग की अंगीठी (कारण) को पास रखने से गरमी (कार्य) अपने आप आजायगी। तो इस साधारण नियम के विरुद्ध जहां कारण के होते हुए भी कार्य पैदा न हो, तो वहां कहा जाता है कि यहां कोई खास बात हैं। यदि आग की अंगीठी रखने से भी गरमी न आये, तो अवश्य कोई विशेष बात होती है। बस यही इस अलङ्कार का विषय है।

---

* विशेषोक्ति जब हेतु सों, कारज उपजै नाहिं। (भाषाभूषण)

विशेषोक्ति में दो बातें आवश्यक है—

(१) आवश्यक और अपेक्षित कारण की विद्यमानता।

(२) कारण की विद्यमानता में भी कार्य का न होना।

उदाहरण

(१) दौलत इन्द्र समान बढ़ी, पै खुमान के नेकु गुमान न आयो

यहां दौलत का बढ़ना कारण है और गुमान (अहङ्कार) का होना उसका कार्य है। धन से अभिमान बढ़ता ही है। पर शिवा-जी के पास इन्द्र के तुल्य संपत्ति होने पर भी गर्व का नाम नहीं। इससे कारण (दौलत) के विद्यमान होने पर भी कार्य (गुमान) का अभाव बताया गया है।

(२) नीर-भरे नित प्रति रहें, तऊ न प्यास बुझाइ॥

प्यास बुझाने का कारण पानी है। नेत्र पानी से भरे रहने पर भी (दर्शन के) प्यासे ही रहते हैं। यहां भी कारण (नीर) के होने पर भी कार्य (प्यास शान्ति) का अभाव कथन किया गया है।

विशेषोक्ति और विभावना में भेद

विशेषोक्ति वास्तव में विभावना का उलट है। विभावना में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती है। विशेषोक्ति में कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता। विभावना में कार्य होता है, कारण नहीं। विशेषोक्ति में कारण होता है, कार्य नहीं।

असंगति

जहां कारण और कार्य परस्पर असंगत (विरुद्ध) से प्रतीत हों, वहां असंगति अलंकार होता है*।

---

* कारज कारन में जहां, लखिये रीति विरुद्ध।
ताहि असंगति कहत हैं, जिनकी मति अति सुद्ध॥ (बिहारी)

असंगति के अर्थ हैं—संगत न होना, बेमेल होना, स्वाभाविक नियम के विरुद्ध होना। असङ्गति में—

कारण और कार्य दोनों का कथन होता है। पर उनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता। कुछ विपरीत, बेमेल और उलट-फेर से होता है। इसी से उस में रमणीयता आ जाती है। इसके तीन भेद हैं—

(१) प्रथम असङ्गति—जहां कारण और कार्य भिन्न २ स्थानों में होते हैं।

(२) द्वितीय असङ्गति—जहां एक स्थान का कार्य दूसरे स्थान पर कर दिया जाय।

(३) तृतीय असङ्गति—जहां प्रयत्न किया जाय एक कार्य का, पर हो जाय दूसरा।

उदाहरण

प्रथम असंगति

जहां कारण और स्थान पर हो और कार्य और स्थान पर होजाय।

(१) भारतीय सूली चढ़त, उतरत घाट कृपान।
कांपत पै सरकार हिय, देखो अचरज महान्॥

यहां 'हृदय का कांपना' कार्य है। उसका कारण है—सूली पर चढ़ना और तलवार के घाट उतरना। जो सूली पर चढ़ता है, उसका हृदय कांपता है। यह स्वाभाविक है। पर यहां सूली चढ़ने वाले हैं—भारतीय और हृदय कांपता है सरकार का। कारण अन्यत्र है और कार्य अन्यत्र। इस से यहां प्रथम असङ्गति है।

(२) लगालगी लोचन करैं, मन नाहक बँधि जाय।

कृष्ण को देखते तो नेत्र हैं, पर बँध जाता है 'मन'। यहां कारण (देखना) अन्यत्र है, और कार्य (बन्ध जाना) अन्यत्र।

द्वितीय असंगति

जहां एक स्थान का कार्य दूसरे स्थान पर कर दिया जाय।

(१) पांयन की सुधि भूलि गई,
अकुलाय महावर आंखिन दीन्हों ॥

यहां व्याकुलता में महावर को पाँओं के स्थान आंखों में दे दिया।

(२) बंसी धुनि सुनि ब्रजबधू चली बिसारि बिचार।
भुजभूषन पहिरे पगनि, भुजन लपेटे हार ॥

यहां जो भूषण भुज में पहिरने चाहियें, वे पैरों में पहिर लिये गये और हारों (कण्ठभूषणों) को भुजाओं में लपेट लिया गया। यहां एक स्थान का कार्य दूसरे स्थान पर किया गया।

तृतीय असंगति

जहां प्रयत्न किया जाय एक कार्य का, पर हो जाय दूसरा।

(१) मोह मिटावन हेतु प्रभु, लीनों तुम अवतार।
उलटो मोहन रूप धरि, मोहीं सब ब्रजनार ॥

संसार का मोह मिटाने के लिये कृष्ण ने अवतार लिया। तो यह प्रथम कार्य का प्रयत्न हुआ। पर उसी कृष्ण ने सब ब्रज गोपियों को मोह लिया—यह उसके विरुद्ध कार्य हो गया। मोह के नाश के लिये अवतार लेने का उद्योग करके उसके विरुद्ध गोपियों को मोह लिया। इससे यहां तृतीय असंगति है।

(२) आये जीवन दैन घन, लगे सुजीवन लैन ॥

बादल जीवन (जल) देने आता है, पर वही (कृष्ण के विरह में) जीवन लेने लग पड़ा है।

यहां बादल का उद्योग या प्रथम कार्य है—"जीवन दान"। पर वह विरुद्ध कार्य करने लग पड़ा—'जीवनदान' के स्थान में वह 'जीवन लेने लगा' है। इस से यहां तृतीय असङ्गति है।

---

(३) न्यायमूलक अर्थालङ्कार

काव्यलिङ्ग

जहां समर्थन के योग्य किसी बात का युक्ति से समर्थन किया जाय, वहां काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है*।

काव्यलिङ्ग में चार बातें आवश्यक हैं—

(१) समर्थन के योग्य कोई बात कही जाय।

(२) वह समर्थनीय बात बिना समर्थन के साकांक्ष रहे।

(३) उस का हेतु, तर्क या युक्ति से समर्थन किया जाय।

(४) पर वह समर्थन ऐसी युक्ति से किया जाय, कि वह 'पृथक् हेतु' न दिखाई देकर वाक्य या पद का ही भाग बन जाय। अर्थात् 'इस कारण से', 'इसलिये', 'चूंकि' आदि हेतुबोधक शब्द का कथन उस में न हो। हेतु कथित न हो, प्रतीत हो।

---

* अर्थ समर्थहिं जोग जो, करै समर्थन तासु।
काव्यलिङ्ग तासों कहत, जिन के सुमति प्रकास ॥ (पद्माभरण)

उदाहरण

(१) कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौराय जग, यहि पाये बौराय॥

सोने में धत्तूरे से सौगुनी मादक शक्ति अधिक होती है। यह समर्थनीय बात है। अर्थात् इसे किसी युक्ति या प्रमाण से पुष्ट करना आवश्यक है। बिना पुष्टि के इसे कोई न मानेगा इस से यह साकांक्ष है। अब उत्तरार्ध में इसका हेतु दिया गया है कि—'धत्तूरे को तो खाने से मद चढ़ता है, पर सोने को प्राप्त कर लेने मात्र से मद चढ़ जाता है'। इस हेतु के देने से ऊपर की समर्थनीय बात की पुष्टि हो गई और वह अब निराकांक्ष भी हो गई। यह हेतु 'कारण कि' 'क्योंकि' आदि शब्द देकर नहीं कहा गया। यहां हेतु गम्य है और वाक्य का ही अङ्ग है। इस से यहां काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

(२) सो नर कस दसकंध, बालि बध्यौ जेहि एक सर।

अंगद कहता है,—हे रावण राम नर नहीं है। यहां यह बात समर्थन के योग्य है। बिना समर्थन के यह साकांक्ष भी है। इससे यह 'समर्थनीय' है। आगे इसकी पुष्टि की गई है—'जिस ने बालि को एक बाण से मार दिया'। यह पहली बात की पुष्टि करता है कि राम मनुष्य नहीं है जिस ने बालि जैसा योद्धा एक बाण से मार दिया। अब यह हेतु वाक्य का ही अङ्ग है। और गम्य है। वाच्य नहीं है। इससे यहां भी काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास में भेद

अर्थान्तरन्यास में एक बात विशेष होती है दूसरी सामान्य। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं।

काव्यलिङ्ग में एक बात ऐसी होती है जो समर्थन की अपेक्षा रखती है। बिना समर्थन के वह साकांक्ष रहती है।

अर्थान्तरन्यास में विशेष बात सामान्य की या सामान्य बात विशेष की पुष्टि करती है।

काव्यलिङ्ग में समर्थनीय बात की पुष्टि की जाती है। इसमें विशेष-सामान्य कुछ नहीं होता। यहां समर्थन गम्य होता है[1]।

परिवृत्ति

जहां एक वस्तु देकर दूसरी के लेने का चमत्कारपूर्ण वर्णन हो, वहां परिवृत्ति अलंकार होता है ❀।

परिवृत्ति का अर्थ है—'विनिमय' अर्थात् अदला-बदला करना। जब एक वस्तु के बदले में दूसरी मिले, तो यह अलङ्कार होता है।

उदाहरण

(१) मन-मानिक दीन्हौं तुम्हैं, लीन्हीं विरह-बलाय ॥

यहां मन देकर विरह बदले में मिला।

---

१ कई आचार्य काव्यलिंग को पृथक् अलंकार नहीं मानते। संस्कृत-साहित्य में इसके मानने न मानने पर बड़ा मतभेद और वाद-विवाद है। हिन्दी में भी मतिराम आदि ने इसका वर्णन नहीं किया। श्री पण्डितराज जगन्नाथ जी इस विषय में लिखते हैं—अत्र वदन्ति काव्यलिंगं नालंकारः,—वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्।...... तस्मात् निर्हेतुरूपदोषाभावः काव्यलिंगम्' इत्यपि वदन्ति। (रसगंगाधर)

❀ कहूँ अधिक कहूँ न्यून को, लैवो-दैवो होय।
परिवृत्त यों द्वै विधि कहत, कवि पण्डित सब कोय ॥ (बिहारी)

(२) मो मन मेरी बुद्धि लै, करि हर को अनुकूल।
लै त्रिलोक की साहिबी, दै धतूर के फूल॥

यहां शिव को धतूरे के फूल देकर, तीन लोक का आधिपत्य बदले में मिलने का कथन है।

परिसंख्या

जहां किसी वस्तु का अन्य स्थान से निषेध करके एक ही स्थान में रहने का वर्णन किया जाय, वहां परिसंख्या अलङ्कार होता है ❀।

उदाहरण

(१) केसन ही में कुटिलता, संचारिन में संक।
लखौ राम के राज्य में, इक ससि माहिँ कलङ्क॥

राम के राज्य में कुटिलता (टेढ़ापन) केवल केशों में है, अर्थात् मनुष्यों में कुटिलता (धोखाबाजी) नहीं है। शंका (डर,भय) केवल संचारीभावों में है', (प्रजागणों में नहीं), और कलङ्क (काला धब्बा) केवल चन्द्रमा में है। प्रजागणों में कलङ्क (दूषण) नहीं हैं।

यहां कुटिलता, शंका और कलंक को अन्य स्थानों से निषेध करके केवल 'केश', 'संचारीभाव' और 'चन्द्र' में स्थापित किया गया है। इस से यहां परिसंख्या अलंकार है।

❀ और ठौर ते मटि कछु, बात एक ही ठौर।
बरनत परिसंख्या कहत, कवि कोविद सिर मौर॥ (मतिराम)

(२) पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर ।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में वीर ॥

अब तो धनुष (इन्द्रधनुष) बरसात ही में दीखता है (वैसे लोगों के हाथों में अब धनुष नहीं दीखता)। अब तीर नदी तीर ही हैं (बाण किसी के हाथ में नहीं)। अब रोने से ही नेत्र लाल होते हैं—(क्रोध से नेत्रों का लाल होना नहीं दिखाई देता)। अब वीर रस तो केवल नौ रसों की गणना में ही है। (मनुष्यों में अब वीर पुरुष नहीं रहे)। यहां धनुष, तीर, लाल दृग और वीर आदि को अन्यत्र से निषेध करके केवल एक स्थान पर ही स्थापित किया गया है। इस से यहां परिसंख्या है।

कहीं कहीं यह निषेध 'न', 'नहीं' आदि शब्दों से भी किया जाता है जैसे—विद्या ही मनुष्य का भूषण है, सोने के गहने नहीं।

कहीं २ पर प्रश्न की शैली पर भी निषेध सूचित होता है—

सेव्य कहा ? तट सुरसरित, कहा ध्येय ? हरि पाद ।
करन उचित कह ? धर्म नित, चित तजि सकल विषाद ॥

सेव्य क्या है ?—गङ्गा का तट (अर्थात् और कुछ नहीं)
ध्येय क्या है ?—हरि के चरण (,, ,,)
कर्तव्य क्या है ?—धर्म (,, ,,)

इस प्रकार यहां प्रश्न करके उत्तर के द्वारा सेव्य आदिकों को अन्यत्र से निषेध करके एकत्र गङ्गा तट आदि में स्थापित किया गया है। इस से यहां भी परिसंख्या है।

काव्यार्थापत्ति

जहां 'उसका तो कहना ही क्या है' इत्यादि पदों से किसी

वस्तु की सिद्धि का वर्णन हो, वहां काव्यार्थापत्ति अलङ्कार होता है* ।

अर्थापत्ति का अर्थ है—जो बात 'अर्थ से सिद्ध हो'। जैसे हम कहें—'चोर तो मेरा कोट ही चुरा कर लेगया' इस से यह सिद्ध है कि कोट के जेब में जो रुपये थे वे भी ले गया—जब कोट ही ले गया तो रुपयों का तो कहना ही क्या है । इत्यादि प्रकार से जहां कुछ रमणीय वर्णन हो, उसे काव्यार्थापत्ति कहते हैं।

उदाहरण

(१) बिना सिखाई चतुरई, तिरियन की विख्यात ।
पसु-पंछिन हूं में लखी, मनुषन की का बात ॥

यहां दुष्यन्त कहता है—'पशु-पक्षियों की स्त्रियां ही बड़ी चतुर होती हैं, तो मनुष्यों की स्त्रियों की तो बात ही क्या: है। इस से यहां काव्यार्थापत्ति है।

(२) दिल्ली दलमली तो तिहारी कहा चली है ।

शिवा जी ने दिल्ली को दल-मल दिया, तो तुम्हारी तो बात ही क्या है। यहां भी काव्यार्थापत्ति है।

प्रतीप

जहां प्रसिद्ध उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बना दिया जाय, वहां प्रतीप अलंकार होता है† ।

---

* यह कियौ तौ यह कहा, इह विधि वरनन होय ।
काव्यार्थापत्ति ताहि कौं, कहत सयाने लोय ॥ (सा० सा०)

† जहां प्रसिद्ध उपवर्न कौ, पलटि कहत उपमेय ।
बरनत तहां प्रतीप हैं, कविजन जगत अजेय ॥ (ललितललाम)

प्रतीप का अर्थ है—विपरीत, उल्टा। प्रतीप में लोक प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाता है। सब कोई जानते हैं कि 'चन्द्रमा' उपमान है। सुन्दर मुख को चन्दमा से उपमा दी जाती है। पर इस को उलट कर यदि यह कहें कि 'चन्द्रमा मुख के समान है' तो यह प्रतीप हो जायगा।

प्रतीप के भेद

प्रतीप के पांच भेद हैं—

(१) प्रथम प्रतीप—जहां प्रसिद्ध उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बना दिया जाय।

(२) द्वितीय प्रतीप—जहां प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना कर असल उपमेय का अनादर प्रकट किया जाय।

(३) तृतीय प्रतीप—जहां प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना कर (सत्य उपमेय के द्वारा) उस (सत्य उपमान) का अनादर कथन किया जाय।

(४) चतुर्थ प्रतीप—जहां उपमान में उपमेय की समता दिखा कर फिर उसे (समता को) असत्य बताया जाय।

(५) पञ्चम प्रतीप—जहां उपमेय के सामने उपमान व्यर्थ और निष्फल बताया जाय।

उदाहरण

प्रथम प्रतीप

जहां उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान कथन किया जाय।

(१) तुव प्रताप सम सूर्य है, जस-सम सोहत चंद।
कर सम कहियतु कल्पतरु, जय जय श्री रघुनन्द॥

यहां सूर्य, प्रताप के समान, चन्द्रमा, यश के समान और कल्पतरु, हाथ के समान (दानी) कथन किये गये हैं। यहां सूर्य उपमेय है और प्रताप उपमान है। पर वास्तव में प्रताप उपमेय है। और सूर्य उपमान होता है। यहां 'चन्द्रमा' उपमेय है और 'यश' उपमान है। पर वास्तव में यश उपमेय है और चन्द्र उपमान होता है। इसी प्रकार कल्पतरु उपमेय है और हाथ उपमान है पर वास्तव में हाथ उपमेय है और 'कल्पतरु' उपमान होता है।

इस प्रकार यहां प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय और उपमेयों को उपमान बताया गया है। इस से यहां प्रथम प्रतीप है।

(२) मुख सौ शोभित सरद शशि, कमल सुलोचन सेय।

यहां प्रसिद्ध उपमान शशि और कमल उपमेय बना दिये गये हैं और मुख और नेत्र उपमेयों को उपमान मान लिया गया है।

द्वितीय प्रतीप

जहां उपमान को उपमेय बना कर असल उपमेय का अनादर कथन किया जाय।

प्रकृति माधुरी पर कहा, गर्व तोहि कसमीर।
नन्दन बन तो सम अहै, सोहत परम गंभीर॥

यहां प्रसिद्ध उपमान नन्दन वन को उपमेय बना दिया है। और असल उपमेय 'कसमीर' का उसके द्वारा अनादर दिखाया गया है। इससे यहां द्वितीय प्रतीप है।

तृतीय प्रतीप

जहां उपमान को उपमेय बना कर उसका असल उपमेय के द्वारा अनादर किया जाय। (यह द्वितीय प्रतीप का उलट है।)।

(१) पाहन, जिय जनि गर्व कर, हौं ही कठिन अपार।
चित दुर्जन के देखिये, तो से लाख हजार ॥

यहां पाहन (प्रसिद्ध उपमान) को उपमेय मान कर संबोधित किया गया है। फिर दुर्जन-चित्त (उपमेय) के द्वारा उसका अनादर किया गया है।

(२) सुछवि गरव मति करु कमल, यों बनितन के नैन।

यहां प्रसिद्ध उपमान 'कमल' का उपमेय 'नेत्रों' के द्वारा अपमान किया है।

चतुर्थ प्रतीप

जहां उपमान में उपमेय की समता दिखा कर फिर उसे असत्य बताया जाय।

(१) तुव मुख के सम है सकत, कहा बिचारो चंद।

जहां मुख को चन्द्र के समान बता कर फिर उस को अयोग्य कथन किया गया है।

प्राचि दिसि ससि उगेउ सुहावा, सिय-मुख सरिस देखि सुख पावा।
बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं, सीय वदन सम हिमकर नाहीं ॥

यहां शशि को सीता के मुख के समान कहने से प्रसिद्ध उपमान (शशि) को उपमेय बना दिया और सीता मुख (उपमेय) को उपमान कर दिया। इन दोनों की समता को दिखाकर फिर विचार करने पर कहा—'सीय वदन सम हिमकर नाहीं'—चन्द्र सीता के मुख के समान नहीं है।

पञ्चम प्रतीप

जहां उपमान व्यर्थ और निष्फल कथन किया जाय।

(१) कल्पवृक्ष केहि काम को, जब हैं नृप जसवन्त।

यहां जसवन्त नृप की विद्यमानता में कल्पवृक्ष (उपमान) का होना निष्फल और व्यर्थ बताया गया है। (क्योंकि जसवन्त नृप इतने दानी हैं कि अब लोगों को कल्पवृक्ष की आवश्यकता नहीं रही)।

(२) अमिय झरत चहुँ ओर सों, नयन ताप हरि लेत।
राधा जू को बदन अस, चंद उदय केहि हेत॥

यहां अमृत बरसाना, नेत्र-ताप-हरण आदि कार्य उपमेय (राधा जू को बदन) कर रहा है। फिर उपमान (चन्द्र) की आवश्यकता ही कुछ नहीं। इस से उपमेय (राधा-मुख) की विद्यमानता में उपमान (चन्द्र) का होना निष्फल कथन किया गया है। इससे यहां पञ्चम प्रतीप है।

---

(४) शृंखलाबन्धमूलक अर्थालङ्कार

एकावली

जहां पूर्व पूर्व विशेष्य की उत्तर उत्तर विशेषण के द्वारा स्थापना या निषेध किया जाय, वहां एकावली अलङ्कार होता है*।

एकावली में पूर्व कथित वस्तु विशेष्य होती है और उत्तर

---

* एक अर्थ लै छाड़िये, और अर्थ लै ताहि।
अर्थपांति इमि कहत हैं, एकावली सराहि॥ (ललित ललाम)

कथित उसका विशेषण। फिर वह विशेषण उस से अगली बात का विशेष्य हो जाता है। इस प्रकार विशेषण, विशेष्य बनते हुए चले जाते हैं और उनकी एक शृंखला सी बन जाती है।

विशेषण का अर्थ यहां 'व्याकरण परिभाषा' का विशेषण नहीं। 'पदार्थ को जो विशिष्ट स्वरूप दे दे—जिस से उसकी कुछ विशेषता प्रगट हो' उसे विशेषण कहते हैं। और विशेषण जिस पदार्थ की विशेषता प्रकट करे, उस पदार्थ को 'विशेष्य' कहते हैं।

एकावली में ये विशेषण अपने अपने विशेष्यों की या तो स्थापना करते हैं या निषेध। स्थापना का अर्थ है—ग्रहण, स्वीकार और निषेध का अर्थ है—प्रतिषेध, इन्कार।

इस आधार पर एकावली दो प्रकार की है—

(१) जहां विशेषण के द्वारा विशेष्य की स्थापना हो।

(२) जहां विशेषण के द्वारा विशेष्य का निषेध हो।

उदाहरण

(१) विशेषण के द्वारा विशेष्य की स्थापना—

(१) मानुष वही जो हो गुनी, गुनी जु कोविद रूप।
कोविद जो कबि पद लहै, कबि जो उक्ति अनूप॥

यहां 'मानुष' विशेष्य है और 'गुणी' विशेषण है। 'मनुष्य वही है जो गुणी है'—इस प्रकार गुणी विशेषण यहां मानुष विशेष्य की स्थापना करता है। आगे 'गुणी' स्वयं विशेष्य हो गया है और उस का विशेषण है 'कोविद'।—'गुणी वही है जो कोविद है—इस प्रकार कोविद विशेषण ने गुणी विशेष्य की स्थापना

की है। फिर आगे कोविद विशेष्य बन गया है और उस की स्थापना 'कवि' विशेषण से की गई है। आगे 'कवि' भी विशेष्य हो गया है और उसकी स्थापना की गई है—'जो उक्ति अनूप' विशेषण से।

इस प्रकार यहां पूर्व २ विशेष्य हैं और उत्तर २ विशेषण हैं, और विशेषणों के द्वारा विशेष्यों की स्थापना की गई है।

(२) सुमति वह जु निज हित लखै, हित वह जित उपकार।
उपकृति वह जहँ साधुता, साधुन हरि आधार॥

यहां पूर्व विशेष्य 'सुमति' की उत्तर विशेषण 'जु निज हित लखै' के द्वारा स्थापना की गई है। आगे 'हित' स्वयं विशेष्य हो गया है और 'जित उपकार' विशेषण से उस की स्थापना की गई है। आगे 'उपकार' भी विशेष्य हो गया है और 'जहँ साधुता' विशेषण से उस की स्थापना है। उस से आगे 'साधु' भी विशेष्य हो गया है और उस की स्थापना की गई है—'हरि आधार' विशेषण से।

(२) विशेषण के द्वारा विशेष्य का निषेध—

(१) गेह न कछु जहँ तनय नहिं, तनय न विनय-विहीन।
विनय न कछु विद्या बिना, विद्या बुधि बिन खीन॥

यहां पूर्व कथित विशेष्य 'गेह' का 'जहँ तनय नहिं' विशेषण के द्वारा निषेध किया गया है। (बिना पुत्र के घर कुछ नहीं।) इसी प्रकार 'तनय' का 'विनय-विहीन' विशेषण के द्वारा निषेध है। (जो विनय-विहीन है, वह तनय नहीं)। इसी प्रकार 'विनय' का 'विद्या बिना' के द्वारा निषेध है (विद्या-रहित विनय, विनय नहीं)।

अन्त में 'विद्या' का 'बुद्धि के बिना' निषेध है (बुद्धि रहित विद्या कुछ नहीं) यह द्वितीय प्रकार की एकावली है।

(२) सोभति वह न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित, दीह[1] दया न दिखै जिन माहीं॥

वह सभा नहीं, जहां वृद्ध नहीं, वे वृद्ध नहीं जो पढ़े हुए नहीं, वे पढ़े हुए नहीं जो साधु संगति में नहीं रहते और वे साधु नहीं जिनके मन में दया नहीं है। इस प्रकार यहां उत्तरोत्तर विशेषणों के द्वारा पूर्व २ विशेष्यों का निषेध किया गया है। इस से यह द्वितीय एकावली है।

कारणमाला

जहां पहले कहा हुआ पदार्थ आगे कहे हुए पदार्थ का कारण हो और पूर्व कार्य फिर अगले का कारण बनता हुआ चला जाय, या इसके विपरीत आगे कहा हुआ पदार्थ पूर्व कथित पदार्थ का कारण बनता हुआ चला जाय, वहां कारणमाला अलंकार होता है❀।

कारणमाला का अर्थ है—कारणों की माला—या लड़ी। जहां एक पदार्थ दूसरे का कारण बने और वह उससे अगले का। इस प्रकार जहां कारणों की माला सी बन जाय, वहां कारणमाला होती है इसे ही हेतुमाला भी कहते हैं। कई आचार्य इसे 'गुंफ' कहते हैं।

---

१ दीर्घ।

❀ पूरब-पूरब हेतु जहँ, उत्तर-उत्तर काज,
उत्तर-उत्तर हेतु जहँ, पूरब पूरब काज,
तहाँ हेतुमाला कहत, कवि कोविद सिरताज॥ (मतिराम)

कारणमाला में दो पदार्थ कथन किये जाते हैं। पहला दूसरे का कारण होता है, दूसरा (कार्य) तीसरे का कारण बन जाता है। या इससे विपरीत दूसरा पहले का कारण होता है। इस प्रकार कारणमाला के दो भेद हो जाते हैं—

(१) पूर्व पूर्व कारण। उत्तर उत्तर कार्य।

(२) पूर्व पूर्व कार्य। उत्तर उत्तर कारण।

उदाहरण

प्रथम कारणमाला

पूर्व पूर्व कारण, उत्तर उत्तर कार्य।

(१) विद्या देती विनय को, विनय पात्रता मित्त।
पात्रत्वै धन, धन धरम, धरम देत सुख नित्त॥

यहां 'विद्या' पूर्व कही गई है और 'विनय' पीछे। विद्या विनय को देती है। इस से 'विद्या' कारण और 'विनय' कार्य है। फिर 'विनय' (पूर्वकार्य) अगली 'पात्रता' का कारण है। फिर 'पात्रता' उस से अगले 'धन' का कारण है। फिर 'धन' उस से अगले 'धर्म' का कारण है और फिर 'धर्म' उस से अगले 'सुख' का कारण है।

इस प्रकार यहां पूर्व पूर्व कथित पदार्थ उत्तर उत्तर कथित पदार्थ का कारण बनता हुआ चला गया है इस से यहां प्रथम कारणमाला है।

(२) बिनु बिस्वास भगति नहीं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपने हुँ, जीव न लह विश्राम॥

यहां विश्वास भक्ति का कारण है, भक्ति राम की कृपा का कारण है और राम की कृपा जीवों की शान्ति का कारण है।

द्वितीय कारणमाला

पूर्व २ कार्य, उत्तर २ कारण--

(१) अन्न मूल घन, घनन को मूल जज्ञ अभिराम।
ताको धन, धन को धरम, धर्ममूल हरिनाम॥

यहां पूर्व कथित 'अन्न' कार्य है और उत्तर कथित 'घन' (वर्षा) उसका कारण है। आगे वही कारण 'घन' कार्य बन गया है और 'यज्ञ' उसका कारण है। उस से आगे 'यज्ञ' का कारण 'धन' और 'धन' का कारण 'धर्म' और 'धर्म' का कारण 'हरिनाम' बताया गया है। इस प्रकार पूर्व पूर्व कथित कार्यों के उत्तर २ कथित कारण बनते हुए चले गये हैं। इससे यहां द्वितीय कारणमाला है।

(१) राम कृपा है भक्ति तें, भक्ति भाग्य तें होय।

यहां पूर्व कथित 'रामकृपा' का कारण उत्तर कथित 'भक्ति' है। फिर 'भक्ति' का कारण 'भाग्य' बताया है। इस प्रकार उत्तर २ कारण हैं। इस से यहां द्वितीय कारणमाला है।

कारणमाला और एकावली में भेद

एकावली में कारण-कार्य-भाव-सम्बन्ध अपेक्षित नहीं। कारणमाला में कारण-कार्य-भाव-सम्बन्ध आवश्यक है। एकावली में विशेष्य-विशेषण-भाव-सम्बन्ध होता है वैसे ये दोनों ही श्रृंखला-बन्धमूलक हैं।

एकावली अधिक व्यापक है, पर कारणमाला का विषय केवल कारण-कार्य-भाव-सम्बन्ध तक ही सीमित है।

सार

जहां पहले कही हुई वस्तु की अपेक्षा आगे कही हुई वस्तु

में अधिक उत्कर्ष, या अधिक अपकर्ष बताया जाय, वहां सार अलंकार होता है*।

सार में भी शृंखला सी बनी होती है। पहली वस्तु से अगली अधिक उत्तम, उससे अगली उससे अधिक उत्तम या इसी क्रम से उत्तरोत्तर निकृष्ट बताई जाती है इस प्रकार सार भी दो प्रकार का हो जाता है—

(१) जहां पूर्व की अपेक्षा उत्तर में उत्कर्ष बताया जाय।

(२) जहां पूर्व की अपेक्षा उत्तर में अपकर्ष बताया जाय॥

उत्कर्ष से अभिप्राय है—गुण कथन या प्रशंसा, और अपकर्ष का अर्थ है—दोष कथन या निन्दा।

उदाहरण

(१) प्रथम सार (उत्कर्ष)

(१) मधु ते मधुरी है सुधा, ता ते कविता जान।

यहां पूर्व 'मधु' से उत्तर 'सुधा' अधिक मीठी और सुधा से उत्तर 'कविता' उस से अधिक मीठी बताई गई है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन होने से यहां प्रथम सार है।

(२) मखमल ते कोमल महा कदलि गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम, तुम्हारे गात॥

मखमल से कदली स्तम्भ के अन्दर के पत्ते अधिक कोमल होते हैं, और कदलीपात से राम के अङ्ग अधिक कोमल हैं। यहां भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताया गया है।

---

* उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। (मतिराम)

(२) द्वितीय सार (अपकर्ष)

(१) तृण ते लघु है तूल, तूलहु ते लघु मांगनों ॥

यहां तृण से हलकी रूई है और रूई से हलका है—मांगना। इस प्रकार उत्तरोत्तर अपकर्ष दिखाया गया है।

(२) शिला कठोरी काठ तें, ता तें लोह कठोर।
ताहू ते कीन्हीं कठिन, मन तुव नन्द किसोर।

काठ से शिला कठोर है, शिला से लोहा कठोर है। उस से भी कठोर कृष्ण का मन है (जो भक्तों की प्रार्थना पर भी नहीं पसीजता) यहां उत्तरोत्तर अपकर्ष दिखाया गया है।

कई बार किसी वस्तु का 'सार' बताने में भी यह अलङ्कार होता है—

जग में जीवन सार है, तासों संपति सार।
संपति सों गुन सार हैं, गुन सों पर उपकार ॥

यहां जगत का सार 'जीवन' है, जीवन का सार 'सम्पत्ति' है सम्पत्ति का सार 'गुण' हैं और गुणों का सार 'परोपकार' है। इस प्रकार उत्तरोत्तर का सार वर्णन किया गया है। यह भी सार अलङ्कार है।

(५) गूढ़ार्थ-प्रतीति-मूलक अर्थालङ्कार

व्याजोक्ति

जहां प्रगट होते हुए किसी रहस्य को बहाने से छिपाने का वर्णन हो, वहां व्याजोक्ति अलङ्कार होता है ❀।

❀ औरै मिस कर कह कछू, रूप छिपावै जोय।
व्याज सहित बरनन करै, व्याज उक्ति है सोय ॥ (सा० सा०)

व्याजोक्ति का अर्थ है—व्याज=बहाने से, उक्ति=कथन, बहाना बनाकर बात छिपाना।

उदाहरण

(१) सावँत नृप तुव त्रास अरि, फिरत पहार पहार।
बिन पूछैं लागत कहन, खेलन आए सिकार॥

यहां सावंत नृप के शत्रु उस के डर से पहाड़ों में मारे २ फिरते हैं। पर जब कोई परिचित व्यक्ति उन को मिलता है, तो कहीं हमारा रहस्य (कि त्रास के कारण हम मारे २ यहां फिर रहे हैं) प्रगट न हो जाय, वे कह देते हैं—'हम तो यहां शिकार खेलने आये हैं।'

यहां प्रगट होते हुए रहस्य (त्रास) को (शिकार खेलने के) बहाने से छिपा लिया है। अतः यहां व्याजोक्ति अलंकार है।

(२) बाइसिकल तें भू गिरयो, फटे वस्त्र समुदाय।
प्रगट भये फिर यों कही, झाड़ी उरझयो जाय॥

यहां बाइसिकल से गिरने और वस्त्र फटने के प्रगट होते हुए रहस्य को 'झाड़ियों में फंस गया था' इस बहाने से छिपाया गया है। इस से यहां व्याजोक्ति अलंकार है।

नोट—पर्यायोक्ति में किसी काम को 'करने के लिये' बहाने से काम लिया जाता है। व्याजोक्ति में 'हुए २ काम को' छिपाने के लिये बहाना बनाया जाता है।

निरुक्ति

जहां किसी शब्द का चमत्कारपूर्ण कल्पित निर्वचन बताया जाय, वहां निरुक्ति अलङ्कार होता है।

किसी शब्द के प्रसिद्ध या व्याकरणसंमत निर्वचन को निरुक्ति अलंकार नहीं कहते। इस में निर्वचन की कल्पना ऐसी विलक्षण होनी चाहिये जिस से चमत्कार आजाय। इस प्रकार इस में दो बातें आवश्यक हैं।

(१) निर्वचन कल्पित हो।

(२) निर्वचन में चमत्कार हो।

उदाहरण

(१) गो, गोपी, गोकुल तजो, लई न सुधि सखि कोय।
मोहन जाको नाम है, मोह कहां से होय॥

कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर पीछे गोपियां परस्पर कहती हैं कि कृष्ण ने गौएं, गोपियां और गोकुल सब को छोड़ दिया है। फिर किसी की सुध ही नहीं ली। हां ठीक भी है जिस का नाम ही मोहन (मोह + न) है, उसको मोह कहां से होगा।

यहां मोहन शब्द का कल्पित निर्वचन दिया गया है—मोह + न = जिसको मोह नहीं है।

(२) मद छोड्यो अरु मोह सों, मुख फेरयो तुम धीर।
खरे मदन मोहन बने, मालवीय, द्विज-वीर॥

यहां पं० 'मदन मोहन' मालवीय जी के नाम का भी इसी प्रकार का कल्पित निर्वचन दिया गया है।

मद छोड्यो अर्थात् जिस में मद नहीं है = मद + न = मदन। मोह सों मुख फेरयो अर्थात् जिस में मोह नहीं है = मोह + न = मोहन।

लोकोक्ति

जहां प्रसङ्ग से किसी कहावत (लोकोक्ति या मुहाविरे का चमत्कारपूर्ण प्रयोग कर दिया जाय, वहां लोकोक्ति अलङ्कार होता है * ।

उदाहरण

(१) इत-उत बैठ खोय दिन-रैना, ज्ञान कहौ तो स्रवन सुनै ना।
कहत, ज्ञान में है भट भेड़ौ, 'नाच न आवै आंगन टेड़ौ'॥

यहां 'नाच न आवै आंगन टेड़ौ' इस लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है।

(२) ये ब्रजबाल सबै इकसी, 'हरिचंदजु' मंडिलि ही बिगरी है।
एक जो होइ तो ज्ञान सिखाइए, 'कूपहि में यहां भांग परी है'॥

यहां 'कूप में भांग पड़ना' मुहाविरे का प्रयोग है।

स्वभावोक्ति

जहां किसी वस्तु या दृश्य का बिल्कुल स्वाभाविक वर्णन हो—जिस में सादगी में ही चमत्कार हो—वहां स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है † ।

स्वभावोक्ति का अर्थ है—स्वभाव का कथन—जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा वर्णन। इस में पदार्थ का सादा – सच्चा स्वरूप अङ्कित

---

* जहँ प्रसङ्गवस लोक की, कहनावत दरसाय।
ऐसो बर्नन होय जहँ, सो लोकोक्ति कहाय॥ (सा० सा०)

† जैसो जाको रूप, गुण, वचन, बनाव, सुभाव।
सो बर्नन के करन कों, सुभावोक्ति कवि गाव॥ (सा० सागर)

किया जाता है । वस्तुतः जहां सादगी में चमत्कार हो, वहां यह अलङ्कार होता है* । इसका दूसरा नाम 'जाति' भी है ।

उदाहरण

(१) नृप द्वार कुमारि चलीं पुर की, अँगराग सुगंध उड़ै गहरी।
साजि भूषण अंबर रंग बिरंग, उमंगन सौं मन माहिं भरी ॥
कबरीन[1] मैं मंजु प्रसून-गुछे, दृग कोरन काजर-लीक परी ।
सित लाभ पै रोचन-विन्दु लसै, पग जावक[2]-रेख रची उछरी ॥

यहां राजभवन में पुर की कुमारियों के सजधज कर जाने का वर्णन बिल्कुल स्वाभाविक रूप में हुआ है । इस से यहां स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

(२) फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत । देखन रथ पाछे जो घोरत ॥
कबहुँक डरपि बान मति लागे । पिछलो गात समेटत आगे ॥
अधरों की मग दाभ गिरावत । थकित खुले मुख ते बिखरावत॥
लेत कुलांच लखो तुम अब ही। धरत पाँव धरती जब तब ही ॥

यहां दुष्यन्त के बाण के डर से भागते हुए आश्रममृग का बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन है । इससे यहां स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

अत्युक्ति

जहां किसी के सौंदर्य, विरह, उदारता, शूरता आदि का

*दण्डी आदि पुराने आचार्य इसको 'आद्या अलंकृति' कहते हैं और इस की बड़ी प्रभुता गाते हैं--शास्त्रेष्वेतस्य साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् (दण्डी) ।

१ सिर की वेणी । २ लाक्षारस ।

बहुत बढ़ा कर अत्यन्त असत्य पूर्ण वर्णन किया जाय, वहां अत्युक्ति अलङ्कार होता है* ।

अत्युक्ति का अर्थ है अति=बहुत अधिक बढ़ा कर, उक्ति= कथन करना । जहां किसी का कोई गुण बहुत बढ़ाकर—यहां तक कि वह असत्य की सीमा तक पहुँच जाय—वर्णन किया जाय, वहां अत्युक्ति होती है ।

वस्तुत: अतिशयोक्ति और अत्युक्ति में बहुत कम भेद है। हां, अतिशयोक्ति में कुछ उपमेय का सादृश्य रहता है—उस में कुछ सत्य का अंश भी होता है, पर अत्युक्ति में बिल्कुल ही असत्य कथन होता है और उपमेय आदि की चर्चा यहां नहीं होती ।

होने को तो प्रत्येक गुण की अत्युक्ति हो सकती है, पर हिन्दी में सुन्दरता, शूरता, उदारता, विरह, प्रेम और कीर्ति इन छः गुणों की ही अत्युक्ति मानी जाती है ।

उदाहरण

(१) सुन्दरता

जब जब चढ़ति अटानि दिन, चंदमुखी यह बाम ।
तब तब घर घर धरत हैं, दीप बारि सब गाम ॥

जब दिन में यह चन्द्रमुखी अटारी पर चढ़ती है, तो ग्राम वाले अपने अपने घरों में दीपक जला देते हैं ।

यहां चन्द्रमुखी की सुन्दरता का इतना बढ़ा कर वर्णन किया गया है कि ग्राम वाले दिन में उसके मुख को चन्द्रोदय समझ कर रात आई जानकर दीपक जला देते हैं ।

---

*जो सुन्दरतादिकनि की, अधिक झुठाई होय ।
ताहि कहत अत्युक्ति हैं, कवि पण्डित सब कोय ॥ (मतिराम)

(२) शूरता

लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि, दिग्गज डोले॥

यहां लक्ष्मण की शूरता का अत्यधिक बढ़ा कर वर्णन है। वे जब क्रोध से बोले तो पृथ्वी डगमगा गई और दिग्गज कांप उठे। पृथ्वी का डगमगाना और दिग्गजों का डोलना असत्य और मिथ्या है।

(३) उदारता

नृप सावँत के दान कौ, समझ लेव यह हाल।
रवि के रथ चाहत छुवन, कवि के भवन बिसाल॥

यहां सावंत नृप के दान की उदारता का अत्यधिक बढ़ा कर वर्णन है। उसके दान से कवियों के इतने विशाल और ऊंचे भवन बन गये कि सूर्य के रथ को छूना चाहते हैं।

(४) विरह

ब्रह की जब आंच लगी तन में, तब जाय परी यमुना जल में।
विरहानल तैं जल सूक गयो, मछली विह छांड गई तर में॥
जब रेत फटी रु पताल गई, तब सेस जरयो धरती तर में।
'रसखान' कहे एहि आंच मिटे, जब आय के स्याम लगे गर में।

जब तन में श्रीकृष्ण के विरह की आग लगी, तो उसे बुझाने के लिये यमुना के जल में छलांग मारी। विरह की अग्नि से यमुना का सारा जल सूख गया। मछलियां भाग गईं। रेत फट गई। आग पाताल में पहुंच गई। वहां शेषनाग भी जल गया। इस प्रकार यहां विरह का अत्यधिक बढ़ा कर असत्यपूर्ण वर्णन किया गया है।

(५) प्रेम

कागद पै लिखत न बनत, मुख पै कह्यौ न जात ।
कहि है सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात ॥

(६) कीर्ति

राजन तव कीरति कथा, कापै कही न जाय ।
चहूँ छई तिहुँ लोक महँ, कहूँ समावै नांय ॥

इन दोनों पद्यों में क्रमशः प्रेम और कीर्ति को अत्यधिक बढ़ा कर प्रतिपादन किया गया है । इस से यहां अत्युक्ति अलङ्कार है ।

उभयालङ्कार[1]

यदि एक पद्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों का मिश्रण हो, या एक से अधिक अलङ्कार हों, तो उन्हें उभयालङ्कार या मिश्रित अलङ्कार कहते हैं[2] ।

इनके दो भेद—

(१) संसृष्टि । (२) संकर ।

---

१ संस्कृत में उभयालङ्कार का जो लक्षण किया जाता है, हिन्दी के अलङ्कार-लेखकों ने उसे नहीं लिया । अतः यहां हिन्दी के अनुसार ही लिखा जाता है ।

२ भूषण इक से अधिक जहँ, सो उभयालंकार । (ला० भगवानदीन)

जहां एक थल पाइए, भूषन बहु सुखसार ।
सो उभयालंकार है, सो है उभय प्रकार ॥ (बिहारीलाल)

जहां पर एक से अधिक अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से तिल और चावलों की तरह मिले हुए दिखाई दें, वहां संसृष्टि होती है[1]।

जहां एक से अधिक अलङ्कार पानी और दूध की तरह परस्पर मिले हुए हों, वहां संकर होता है[2]।

मिश्रण या मिलाप दो ही प्रकार का होता है। एक वह जिस में सब की पृथक् सत्ता स्वतन्त्र रूप से रहे। दूसरा वह जहां एक दूसरे में बिल्कुल विलीन हो जाय, और अपनी सत्ता को खो दे। तिल और चावल मिले रहने पर भी 'यह तिल है' 'यह चावल है' इस प्रकार पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं। पर दूध और पानी का मिलाप ऐसा होता है कि एक दूसरे में मिल कर अपनी सत्ता को छोड़ देता है। इसी आधार पर मिश्रित अलङ्कारों के भी दो भेद हैं। संसृष्टि में मिलाप तिल-चावल का सा होता है। और सङ्कर में मिलाप दूध-पानी का सा होता है।

उदाहरण

संसृष्टि

(१) लसत मंजु मुनि-मंडली, मध्य सीय रघुनन्द।
ज्ञान-सभा जनु तनु धरे, भक्ति सच्चिदानन्द॥

यहां 'मंजु', मुनि, 'मण्डली' और 'मध्य'—इनमें 'म' की आवृत्ति से अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास) है। 'ज्ञान-सभा जनु तनु धरे' इस में उत्प्रेक्षा है। इससे यहां शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

---

१. जुदे जुदे भासैं सकल, अपने अपने ठाम।
तिल-तन्दुल की रीति करि, सो संसृष्टि सुनाम॥ (ला० भगवानदीन)

२. पय पानी की रीति तें, हाेंय परस्पर लीन।
ता कहँ संकर नाम दै, भाषत सुकवि प्रवीन॥ (ला० भगवानदीन)

(२) खञ्जन, मधुकर, मीन, मृग, ये सब एक समीप।
घूंघट पट में देखिये, पाले मदन-महीप ॥

यहां पूर्वार्ध में 'म' की आवृत्ति से अनुप्रास है। 'खञ्जन', 'मधुकर', 'मीन' ये सब उपमान ही हैं, इनके उपमेय कथन नहीं किये गये, इससे अतिशयोक्ति है। फिर 'मदन-महीप' में रूपक है।

यहां ये सब पृथक् २ सत्ता रखते हुए तिल-चावलों की भांति मिले हुए हैं। अतः यहां संसृष्टि है।

संकर

(१) पवन-विकम्पित-महीरुहों के, तले कांपती छाया।
चन्द्र-सिंह-हत-तिमिर-गजों की, मानों खण्डित काया ॥

चांदनी रात में वायु से कंपित वृक्षों के नीचे हिलती हुई छाया ऐसी प्रतीत होती है मानों चन्द्र रूपी शेर से मारे हुए अन्धकार रूपी हाथियों के कटे हुए शरीर के खण्ड हैं।

यहां 'मानों' से उत्प्रेक्षा है। और 'चन्द्र-सिंह' और 'तिमिर-गज' में परम्परित रूपक है। उत्प्रेक्षा और रूपक एक दूसरे में विलीन हैं। यहां रूपक उत्प्रेक्षा को पुष्ट करता है। रूपक के बिना उत्प्रेक्षा बनती नहीं। अतः यहां संकर है।

(२) श्रीवृंदावन बसि बढ़ै, उर अनन्य अनुराग।
करिय कृपा मो पर मिलै, प्रभु-पद-पदम पराग ॥

यहां 'प्रभुपद पदम पराग' में रूपक है, 'प' की आवृत्ति से अनुप्रास भी है, और 'पद-पदम' में यमक भी है। इस प्रकार ये तीनों पृथक् नहीं किये जा सकते। ये एक दूसरे में लीन से होगये हैं। इससे यहां भी संकर है।

छन्द-परिचय

परिशिष्ट (क)

छन्द-परिचय

छन्दों को काव्य के वस्त्र या पोशाक कह सकते हैं। छन्द शब्द का मूल अर्थ भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। इस शब्द का सीधा सम्बन्ध उसी धातु से है जिस से छंद, प्रच्छद (कपड़ा), आच्छादन आदि शब्द बने हैं। इस प्रकार छन्द काव्य-पुरुष की पोशाक हैं।

जैसे पोशाक मनुष्य के स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, मान-प्रतिष्ठा, प्रभाव और सौन्दर्य के लिये आवश्यक है, वैसे ही काव्य के लिये छन्द हैं। यह ठीक है कि हमारे हां छन्दों को काव्य-लक्षण का अनिवार्य रूप से आवश्यक अंग नहीं माना गया, पर इतर भाषाओं में कविता का निर्धारक लक्षण ही 'छन्दोमयी रचना' है। हमें भी साधारण बातचीत में 'कविता' या 'काव्य' से 'छन्दोबद्ध' रचना का ही बोध होता है। उस ने कविता लिखी है'—यह सुनकर हम यही समझते हैं कि कुछ छन्दों में लिखा गया है। इस प्रकार छन्द और काव्य का अभेद रूप से ही व्यवहार होता है।

यद्यपि छन्द बाह्य वेष-भूषा के साधन हैं, तथापि यह सब स्वीकार करते हैं कि छन्दों में अपना अलग एक विलक्षण सौन्दर्य और आकर्षण होता है। तुलसी रामायण का अर्थ न समझने वाले भी उस की चौपाइयों और दोहों को पढ़कर आनन्दमग्न होते देखे गये हैं।

साधारण से साधारण बात जिस में कुछ भी चमत्कार नहीं, यदि उसको भी छन्दोबद्ध कर दिया जाय, तो उस में कुछ सौन्दर्य अवश्य आजाता है। जैसे कोई कन्या कहे—'मां मुझे बहुत भूख लग रही है। मैं पाठशाला से छुट्टी लेकर आई हूँ। मुझे रोटी दो।' तो यह साधारण बात हुई। यदि इसी बात को वह छन्दोबद्ध करके यों कहे, तो इस में अवश्य कुछ विलक्षणता आजाती है—

भूख लगी मां रोटी दे। आई हूँ मैं छुट्टी ले॥

यह उदाहरण हम ने यह दिखाने के लिये दिया है कि साधारण से साधारण बोलचाल में भी जब छन्द का प्रयोग हो जाता है, तो उस में कुछ अद्‌भुत विलक्षणता और सौन्दर्य आ जाता है, जिस का अनुभव सब करते हैं।

न केवल सौन्दर्य, अपितु छन्दोबद्ध रचना का प्रभाव भी अधिक होता है। जो मोहिनी शक्ति छन्दों में है, वह गद्य में नहीं पाई जाती। एक फड़कती हुई कविता सहस्रों श्रोताओं को जिस प्रकार मंत्र-मुग्ध कर सकती है, उस प्रकार गद्य के भाषण नहीं कर सकते। छन्दों के आकर्षण को बाल, वृद्ध, पठित और अपठित सभी स्वीकार करते हैं। मानवीय हृदय में छन्दों के लिये यह अद्‌भुत आकर्षण सृष्टि के आदि काल से ही चला आ रहा है।

सौन्दर्य और प्रभाव के साथ ही छन्दों के द्वारा विचारों को सर्वप्रिय और स्थायी होने में बड़ी सहायता मिलती है। छन्द मनुष्य की स्मृति में भी सुगमता से चढ़ जाते हैं और देर तक वहीं स्थिर रहते हैं। इसी लिये सुन्दर लोकोक्तियां, उपयोगी कहावतें और अनूठी सूक्तियां छन्दों में होने के कारण ही सर्वत्र प्रचरित हैं और कण्ठ-परम्परा के द्वारा ही चिर काल से जीवित हैं। यदि

ये छन्दों में न होतीं, तो इन की इतनी सर्व-प्रियता, इतना विस्तृत प्रचार और इतना लम्बा दीर्घ-जीवन कदापि न होता[1]।

इस से यह स्पष्ट है कि छन्दों में अपना एक अलग आकर्षण, सौन्दर्य और प्रभाव होता है जिसके साथ काव्य का आकर्षण, सौन्दर्य और प्रभाव मिल जाने से सोने पर सुहागे का काम हो जाता है।

इस लिये काव्य के लिये छन्द अत्यन्त उपयुक्त पोशाक हैं जिन से काव्य का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है और प्रौढ़ता को प्राप्त होकर देश की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। यही कारण है कि हमारे साहित्य के प्रायः सभी महाकवियों ने अपनी दिव्य सूझ के उत्कृष्ट रत्न हमें छन्दोमयी वाणी में ही दिये हैं। अतः साहित्य के यथावत् ज्ञान के लिये काव्य के इतर अंगों के समान छन्दों का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है[2]।

---

१ वैदिक-साहित्य में एक रूपक के द्वारा यह बात बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट की है। 'देवताओं ने मृत्यु के डर से छन्दों की शरण ली। छन्दों ने आच्छादन करके उनको मृत्यु-मुख से बचा लिया'। वास्तव में विचारों—और निर्माताओं का भी, मृत्यु-मुख से रक्षण और उनका दीर्घ जीवन छन्दों के द्वारा ही होता है। गद्य-रचना बहुत दीर्घ-जीवी और सर्व-प्रिय नहीं होती। सभी जातियों का चिरस्थायी और सुन्दर साहित्य छन्दों में हैं।

२ ऐतिहासिक दृष्टि से 'छन्द-विज्ञान' का साहित्य के 'पृथक् अंग' के रूप में विकास अलंकार आदि इतर अंगों के 'पृथक् शास्त्र' बनने से बहुत पूर्व का है। वैदिक साहित्य में अलंकार के प्रयोग तो मिलते हैं पर 'स्वतन्त्र शास्त्र' के रूप में उनका विवेचन नहीं है। छन्द तो वैदिक

इसलिये इस परिशिष्ट में छन्द शास्त्र की मुख्य मुख्य परिभाषाओं और हिन्दी के मुख्य मुख्य छन्दों का संक्षेप से परिचय दिया जाता है।

छन्द का लक्षण

जो रचना मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या, क्रम, यति, गति तथा तुकबन्दी के विशेष नियमों के अनुसार बने हुए पादों में बंधी हुई हो, उसे छन्द कहते हैं *।

वाक्य रचना के दो ही प्रकार हैं—गद्य और पद्य। पाद-बद्ध रचना को पद्य और पाद-बन्धन से रहित रचना को गद्य कहते हैं। पद्य का ही दूसरा नाम छन्द है।

उक्त लक्षण के अनुसार छन्द में ये बातें आवश्यक हैं—

(१) नियमानुसार 'पाद' बने हुए हों।

(२) प्रत्येक पाद में 'मात्राओं' अथवा वर्णों की संख्या और 'क्रम' नियत हो

(३) यति के नियम।

काल से ही 'स्वतन्त्र' वेदाङ्ग की पदवी प्राप्त किये हुए हैं। अब भी अंग्रेजी आदि भाषाओं में 'अलंकार विवेचन' का अभी 'स्वतन्त्र-शास्त्र' के रूप में विकास नहीं हुआ, पर छन्द तो उन में भी चिरकाल से ही 'स्वतन्त्र-शास्त्र' के रूप में विकसित चले आते हैं। अतः छन्द शास्त्र अत्यन्त प्राचीन है। और यह उसकी उपयोगिता और उपादेयता का प्रमाण है।

* मत्त वरण गति यति नियम, अंतहिं समता बंद।
जा पद-रचना में मिलें, 'भानु' भनत स्वइ छंद ॥ (जगन्नाथ)
मात्रा कौ वा बरण कौ, नियम चरन प्रति होय।
समता होय तुकान्त में, छन्द कहावत सोय ॥ (सा० सा०)

(४) गति के नियम और

(५) तुक के नियम विद्यमान हों ।

अत: इन परिभाषाओं को भी संक्षेप से समझ लेना चाहिये ।

पाद या चरण

पाद या चरण एक प्रकार के सांचे हैं जिन में ढल कर भाषा साबन की टिकियों के समान एक सार, एक परिमाण, एक तोल, एक माप और एक शकल में व्यक्त होती है ।

पाद का अर्थ है—'चतुर्थ भाग' या चौथा हिस्सा । प्राय: छन्दों के चार पाद होते हैं । प्रत्येक पाद में वर्णों या मात्राओं की संख्या और उन का क्रम, नियत होता है । छन्द का परिमाण ठीक रखने के लिये पादों का एक सा होना आवश्यक है ।

नोट—किन्हीं बड़े २ छन्दों में चार के स्थान पर छ: पाद भी होते हैं । सारांश यह है कि छन्द को चाहे जितने भागों में विभक्त कर लो, एक भाग को 'पाद' कहेंगे । इसे ही 'पद' या 'चरण' भी कहते हैं ।

पाद दो प्रकार के हैं—सम या युग्म और विषम या अयुग्म । प्रथम, तृतीय और पञ्चम पाद 'विषम पाद' कहे जाते हैं और द्वितीय, चतुर्थ तथा षष्ठ पादों को 'सम पाद' कहते हैं ।

मात्रा और वर्ण

छन्द:शास्त्र में ह्रस्व स्वर को 'मात्रा' कहते हैं । 'स्वर' कहने से स्वर से युक्त व्यञ्जन भी ले लिये जाते हैं । व्यञ्जनों की मात्रा नहीं गिनी जाती—जैसे 'स्थ्य' में स्+थ्+य् ये तीन व्यञ्जन हैं और ह्रस्व 'अ' स्वर है । यहां 'स्थ्य' की एक ही मात्रा ली जायगी । इसी प्रकार 'कमल' में तीन मात्राएं मानी जाती हैं ।

दीर्घ स्वरों और वर्णों की दो मात्राएं गिनी जाती हैं। जैसे 'राजा' में चार मात्राएं हैं। 'ज्ञान' में तीन मात्राएं हैं।

मात्रा को 'मत्ता', 'मत्त', 'कला' और 'कल' भी कहते हैं।

वर्ण का अर्थ है अक्षर—अर्थात् जिसमें स्वर एक हो, व्यञ्जन चाहे जितने हों। ये भी दो प्रकार के हैं, ह्रस्व और दीर्घ। वर्णों के गिनने में दीर्घ वर्ण का भी एक ही वर्ण गिना जाता है। जैसे 'राजा' में दो वर्ण गिने जाते हैं। 'ज्ञान' के भी दो वर्ण माने जाते हैं। 'स्वास्थ्य' के दो वर्ण गिने जाएंगे।

मात्राओं और वर्णों की गिनती में यही भेद है। मात्राओं की गिनती ह्रस्व स्वरों के अनुसार होती है, पर वर्णों की गिनती वर्णों के अनुसार होती है। जैसे—

गुन अवगुन जानत सब कोई।

इस में मात्राएं तो १६ हैं, पर वर्ण केवल १३ हैं।

नोट—मात्रा तथा वर्ण गिनने में हल् व्यञ्जन को नहीं गिनते। न तो उस की मात्रा ही गिनी जाती है और न वर्ण। जैसे—महान् की ३ मात्राएं और २ वर्ण गिने जाएंगे। हां हल् व्यञ्जन के पूर्व का लघु वर्ण गुरु माना जाता है। जैसे सरित् में 'रि' गुरु माना जायगा और इस की दो मात्राएं गिनी जाएंगी।

संख्या और क्रम

मात्राओं और वर्णों की गिनती को 'संख्या' कहते हैं। इन के गिनने की रीति ऊपर बता दी है। इसका मूल आधार ह्रस्व और दीर्घ वर्ण हैं। ह्रस्व वर्णों को लघु और दीर्घ वर्णों को गुरु कहते हैं। किस छन्द में कितनी मात्राएं हों या कितने वर्ण हों, यह उनकी

'संख्या' है। और कहां २ पर लघु हों, कहां २ पर गुरु हों, इस लघु-गुरु के स्थान सम्बन्धी नियम को 'क्रम' कहते हैं।

छन्दःशास्त्र में प्रचलित लघु, गुरु की परिभाषा को भी समझ लेना चाहिये।

लघु और गुरु

लघु—(१) अ, इ, उ और ऋ इन ह्रस्व स्वरों तथा इन के साथ मिले हुए एक, दो, तीन या इस से भी अधिक व्यञ्जनों को लघु मानते हैं। जैसे—'कमल' में तीनों वर्ण लघु हैं। 'क्रम' में दोनों लघु हैं। 'त्र्य' 'स्थ्य' ये दोनों लघु हैं।

(२) ँ अर्ध बिन्दु वाले ह्रस्व स्वर भी लघु माने जाते हैं। जैसे—'विहँसि' में 'हँ' लघु है।

गुरु—(१) आ, ई, ऊ, ॠ आदि दीर्घ स्वर और इन से युक्त व्यञ्जन गुरु होते हैं। जैसे—'राजा', 'दीदी', 'चूना' आदि सब गुरु हैं।

(२) ए, ऐ, ओ, औ ये संयुक्त स्वर और इन से युक्त व्यञ्जन भी गुरु होते हैं। जैसे—'ऐसा', 'गोला', 'नौका' आदि सब गुरु हैं।

(३) अनुस्वार वाले सभी वर्ण गुरु होते हैं। जैसे—'दंगा', 'गंजा' में 'दं' और 'गं' गुरु हैं।

(४) विसर्गान्त सभी वर्ण गुरु होते हैं। जैसे—दुःख में 'दुः' गुरु है।

(५) संयुक्त वर्ण से पूर्व का लघु वर्ण भी गुरु माना जाता है। जैसे—'सत्य' में 'स', 'दुष्ट' में 'दु' और 'धर्म में 'ध' गुरु हैं।

(६) हल् अक्षर से पूर्व का लघु वर्ण भी गुरु माना जाता है। जैसे—सत् में 'स' और सरित् में 'रि' गुरु हैं।

(७) पाद के अन्त में होने वाले लघु वर्ण को भी कभी २ आवश्यकता होने पर गुरु मान लेते हैं। जैसे —'लीला तुम्हारी अति ही विचित्र'—इस पाद के अन्त में 'त्र' यद्यपि लघु है, पर छन्द शुद्धि के लिये इसे गुरु मान लिया जाता है। (यह इन्द्रवज्रा छन्द है। इसका लक्षण आगे देखो)।

अपवाद

छन्दों में लघु-गुरु के मानने का आधार 'बल' या 'भार' है। अर्थात् जिस वर्ण के उच्चारण में अधिक भार दे दिया जाय वह लघु भी गुरु हो जाता है और जिस वर्ण के उच्चारण में कम भार दिया जाय वह गुरु भी लघु हो जाता है। जैसे--

(१) तुम्हारा, तुम्हारे, तुम्हारी, कन्हैया, जुन्हैया आदि शब्दों में आदि के 'तु', 'क' और 'जु' पर भार न होने से ये लघु ही माने जाते हैं। (यद्यपि उक्त नियम ५ के अनुसार ये गुरु होने चाहियें।

(२) 'जामवंत के वचन सोहाये'—इस में 'सो' गुरु होने पर भी लघु माना जाता है। अतः इस को पूरे बल से 'सो' नहीं पढ़ते, किन्तु हलका कर के 'सु' का सा करके पढ़ते हैं। गुरु मानने से मात्राओं की गिनती में अन्तर होने से (चौपाई=१६ मात्रा) छन्द भ्रष्ट हो जाता है।

वस्तुतः कवियों को यह खुली आज्ञा है कि वे छन्द की शुद्धि के लिये शब्द की कांट छांट करके उसे ठीक करलें ❀।

❀ अपि माषं मषं कुयात्, छन्दोभङ्गं न कारयेत्।

(१) कहीं हल् वर्ण में स्वर मिलाकर लिखते हैं। जैसे—

'विघ्न' को 'विघन', 'महान्' को 'महान' और 'सूर्य' को 'सूरज' करके लिखते हैं।

(२) कहीं लघुवर्ण को दीर्घ बना लेते हैं। जैसे—

जप तप योग यज्ञ व्रत दाना। विमल विराग ज्ञान विज्ञाना॥

इस में 'दान' को 'दाना' और 'विज्ञान' को 'विज्ञाना' करके लिखा गया है।

(३) कहीं सानुस्वार वर्ण को अर्ध बिन्दु लगाकर लघु कर लेते हैं। जैसे—'हंसना' में 'हं' उक्त नियम ३ के अनुसार गुरु है। पर कवि इसे 'हँसना' करके लिख देते हैं जिस से यह लघु हो जाता है।

लघु का चिह्न खड़ी पाई (।) और गुरु का चिह्न वक्र (ऽ) है।

गण

ऊपर कहा गया है कि लघु-गुरु वर्णों के स्थान-सम्बन्धी नियम को 'क्रम' कहते हैं। क्रम को सुगमता से समझने और स्मरण रखने के लिये छन्दःशास्त्र में गणों की कल्पना की गई है। उसे भी संक्षेप से समझ लेना चाहिये।

वर्णों की 'संख्या' और 'क्रम' की सुगमता के लिये तीन तीन वर्णों का एक एक गण बना दिया गया है, इन से छन्द के पाद में लघु, गुरु वर्णों का स्थान और परिमाण नियत हो जाता है। ये गण संख्या में आठ हैं। इन्हीं के उलट फेर से सब छन्द बनते हैं। इनके नाम तथा लक्षण इस प्रकार हैं—

सं०	गण का नाम	सङ्केत	लक्षण	स्वरूप	उदाहरण
१	म-गण	म	तीनों वर्ण गुरु हों।	ऽऽऽ	मायावी। सावित्री।
२	न-गण	न	तीनों वर्ण लघु हों।	।।।	कमल। नयन।
३	भ-गण	भ	आदि में गुरु। पिछले दोनों वर्ण लघु हों।	ऽ।।	बालक। मिश्रित।
४	य-गण	य	आदि में लघु। पिछले दोनों वर्ण गुरु हों।	।ऽऽ	पुराना। भवानी
५	ज-गण	ज	मध्य में गुरु। आदि अन्त में लघु।	।ऽ।	समाज। प्रभाव।
६	र-गण	र	मध्य में लघु। आदि अन्त में गुरु।	ऽ।ऽ	बालिका। मोहिनी।
७	स-गण	स	अन्त में गुरु। आदि और मध्य में लघु।	।।ऽ	जननी। सरला।
८	त-गण	त	अन्त में लघु। आदि और मध्य में गुरु।	ऽऽ।	संसार, राजेंद्र।

इन गणों को सुगमता से स्मरण रखने के लिये इस सूत्र को भली प्रकार समझ लेना चाहिये—

यमाताराजभानसलगम्।

इस में प्रथम के आठ अक्षर तो आठों गणों से नाम हैं। पीछे ल—लघु और गम—गुरु। इन्हीं को पिंगल के दशाक्षर

कहते हैं । सभी गणों के लक्षण भी इसी सूत्र में हैं । जिस गण को जानना हो, उसी अक्षर के आगे के दो और अक्षर मिलाने से उन के लघु-गुरु क्रम के अनुसार उस गण का लक्षण होता है। जैसे त-गण की पहचान के लिये, 'ता' के आगे के दो अक्षर और मिलाएं, तो 'ताराज' बन जायगा, अर्थात् अन्त में लघु और आदि-मध्य में गुरु । यही त-गण का लक्षण है । इसी प्रकार य-गण, न-गण आदि का भी लक्षण जान लेना चाहिये।

निम्न-लिखित दोहे से भी गणों के लक्षण जाने जा सकते हैं—

आदि मध्य अवसान में, भ ज स सदा गुरु मान ।
क्रम से होते य र त लघु, म न गुरु लघु त्रय जान ॥

अर्थात् भ ज स क्रम से आदि गुरु, मध्य गुरु और अन्त गुरु होते हैं। अर्थात् आदि गुरु भ-गण, मध्य गुरु ज-गण और अन्त गुरु स-गण होता है । इस प्रकार य र त क्रम से आदि लघु, मध्य लघु और अन्त लघु होते हैं । अर्थात् आदि लघु य-गण, मध्य लघु र-गण और अन्त लघु त-गण होता है । म-गण में तीनों गुरु, और न-गण में तीनों लघु होते हैं।

नोट—विद्यार्थियों को मात्रा गिनने और गण जानने का अच्छी तरह अभ्यास कर लेना चाहिये । इस से छन्दों के लक्षणों को समझने और स्मरण रखने में बड़ी सुगमता होगी।

यति

विराम या विश्राम को यति कहते हैं । साधारणतया पाद के अन्त में यति अवश्य होती है । पर बड़े २ छन्दों में (जहां एक पाद में इतने अधिक अक्षर हों कि उन का एक सांस में उच्चारण

करना कठिन हो) उन की लय को ठीक रखने के लिये एक २ पाद में दो या तीन तक भी यतियां होती हैं। इस प्रकार बड़े २ छन्दों में यति के भी विशेष नियम हैं, जो आगे छन्दों के लक्षणों में दिये गये हैं।

गति

छन्द के पढ़ने की लय या पाठ-प्रवाह को गति कहते हैं। मात्राओं की संख्या पूरी होने पर भी गति या लय के बिना छन्द नहीं बनता। इस गति के कोई खास नियम नहीं बताये जा सकते। यह अभ्यास और कुछ नाद के नियमों पर निर्भर है। जैसे—

'जब सकोप लखन बचन बोले'।

इस में चौपाई के लक्षणानुसार पूरी १६ मात्राएं हैं । पर गति ठीक न होने से यह चौपाई नहीं कही जा सकती। इसी की गति को ठीक करके यदि यों पढ़ा जाय—

लखन सकोप बचन जब बोले।

तो यह ठीक चौपाई बन जाती है। अतः छन्दों के तोल-माप में वर्ण या मात्राओं की समानता के बाद भी 'गति' या लय का होना आवश्यक है।

तुक

पाद के अन्त में स्वर-सहित-वर्णों की आवृत्ति को तुक कहते हैं।

तुक के प्रयोग से कविता में एक विशेष कर्ण-प्रियता और कमनीयता आजाती है। इसी को शब्दालङ्कारों में 'अन्त्यानु-प्रास' कह आये हैं।

पांच मात्राओं का तुक उत्तम गिनते हैं। चार मात्राओं का मध्यम, तीन का निकृष्ट और दो का त्याज्य मानते हैं।

तुकों का मिलान भिन्न २ छन्दों में भिन्न २ प्रकार का होता है—कहीं सभी पादों में एक ही तुक चलता है। उसे 'सर्वान्त्य' कहते हैं जैसे सवैया आदि में। कहीं पहले चरण का तुक तीसरे से मिलता है। उसे विषमान्त्य कहते हैं। जैसे सोरठा आदि में। कहीं दूसरे चरण का तुक चौथे से मिलता है। उसे समान्त्य कहते हैं। जैसे दोहा आदि में। कहीं पहले चरण का दूसरे के साथ और तीसरे का चौथे के साथ मिलता है। उसे विषम-समान्त्य कहते हैं। जैसे चौपाई आदि में। कहीं इस के विपरीत पहले का तुक तीसरे से और दूसरे का चौथे से मिलता है। उसे समान्त्य-विषमान्त्य कहते हैं। कहीं २ किसी भी चरण का तुक नहीं मिलता। उसे अतुकान्त्य या भिन्नान्त्य कहते हैं।

नोट—हिन्दी में मात्रा छन्दों में तो तुक का नियम है, पर वर्णिक वृत्तों में इस पर विशेष ज़ोर नहीं दिया जाता। यह कवि की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।

छन्दों के भेद

हिन्दी में छन्दों के दो भेद हैं—

(१) मात्रिक छन्द या जाति।

(२) वर्णिक छन्द या वृत्त।

जिन छन्दों में मात्राओं की गणना से पाद-रचना का नियम है, उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं।

जिन छन्दों में वर्णों की गणना और क्रम से पाद रचना का नियम है, उन्हें वर्णिक छन्द कहते हैं।

वर्ण-वृत्त और मात्रिक छन्द की पहचान यह है कि जिस छन्द के चारों चरणों में वर्णों की संख्या और क्रम ठीक समान रूप में मिल जाय, वह वर्ण वृत्त होता है। जहां चारों पादों में वर्णों की संख्या न्यूनाधिक हो और मात्राओं की संख्या एक समान मिले वह मात्रिक छन्द होता है ❀। जैसे—

	वर्ण संख्या	क्रम
मुझे नहीं ज्ञात कि मैं कहाँ हूँ,	११	। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
हरे ! यहाँ हूँ अथवा वहाँ हूँ।	११	ज त ज ग ग
विचारता किन्तु यही यहाँ हूँ,	११	" " " " "
नहीं वहाँ क्या तुम, मैं जहाँ हूँ ॥	११	" " " " "

इस में चारों चरणों में वर्णों की संख्या और लघु-गुरु का क्रम एक समान है। इससे यह छन्द वर्णिक वृत्त (उपेन्द्रवज्रा) है।

बंदौं सन्त असज्जन चरणा,	मात्रा १६	वर्ण ११
दुख-प्रद उभय बीच कछु वरणा।	,, १६	,, १४
विछुरत एक प्राण हरि लेहीं,	,, १६	,, १२
मिलत एक दारुण दुख देहीं ॥	,, १६	,, १२

यहां प्रत्येक चरण में मात्राएं तो ठीक १६ हैं, पर वर्ण किसी पाद में ११, किसी में १२ और किसी में १४ हैं। इस से यह छन्द मात्रिक छन्द (चौपाई) है।

नोट—मात्रिक छन्दों में 'क्रम' का विशेष नियम नहीं होता। इस से उन में 'गणों' का भी विशेष काम नहीं पड़ता।

❀ गुरु लघु चारों चरण में, क्रम से मिलें समान।
वर्ण वृत्त है, अन्यथा, मात्रिक छन्द प्रमान ॥ (हिं० प० रचना)

चरणों की गति के आधार पर छन्दों के तीन भेद किये जाते हैं—

(१) सम, (२) अर्ध-सम और (३) विषम।

जिन के चारों चरणों में मात्राओं या वर्णों की संख्या और लघु-गुरु क्रम तथा यति के नियम समान हों, वे 'सम छन्द' कहे जाते हैं[1]। जैसे चौपाई, इन्द्रवज्रा आदि।

जिनका पहला पाद तीसरे पाद के समान हो, और दूसरा पाद चौथे पाद के समान हो, उन्हें 'अर्धसम' कहते हैं[2]। जैसे—दोहा, सोरठा आदि।

जो सम और अर्धसम न हों—अर्थात् जिन के चारों ही चरणों में भिन्न २ लक्षण विद्यमान हों, उन्हें 'विषम' कहते हैं[3]। कई आचार्यों के मत में चार चरणों से कम या अधिक चरणों वाले सारे छन्द 'विषम कहाते हैं। जैसे कुण्डलिया, छप्पय आदि।

मात्रिक छन्दों में प्रतिचरण ३२ मात्राओं तक के छन्द साधारण छन्द कहे जाते हैं, और जिनके प्रतिचरण में ३२ से अधिक मात्राएं हों, उन्हें दण्डक कहते हैं।

वर्णिक वृत्तों में प्रतिचरण २१ अक्षरों तक वाले तो साधारण वृत्त हैं। २२ से २६ अक्षर प्रतिचरण वालों को सवैया कहते हैं। और इसके भी ऊपर वालों को दण्डक कहते हैं।

दण्डकों के भी दो भेद हैं। क्रमयुक्त या साधारण दण्डक और मुक्तक। साधारण दण्डकों में संख्या और क्रम दोनों होते हैं, पर

---

१ चहुँ चरणनि गति एक सी, सो सम छन्द बखानु। (छन्द प्र०)

२ विषम-विषम, सम-सम चरण, तुल्य अर्ध-सम छन्द। (छन्द प्र०)

३ ना सम ना पुनि अर्धसम, विषम जानिये छन्द। (छन्द प्र०)

मुक्तकों में वर्णों की प्रतिपाद संख्या का ही नियम है। लघु-गुरु क्रम का नियम उन पर लागू नहीं होता। वे गणों के या क्रम के बन्धन से मुक्त होते हैं[४]।

हिन्दी के कुछ मुख्य छन्द

मात्रिक (सम)

इन छन्दों में मात्राओं की गणना से पाद रखे जाते हैं। चारों पाद एक समान होते हैं।

चौपाई

(सोलह कल 'ज त' अन्त न दीजै)

इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं होती हैं। पाद के अन्त में जगण या तगण (।S।, SS।) नहीं रखे जाते। अन्त में प्रायः दो गुरु होते हैं। तुक प्रथम चरण का दूसरे से और तीसरे का चौथे से मिलता है। यति पाद के अन्त में होती है।

उदाहरण

जब ते राम ब्याहि घर आए,	मात्राएं	१६	अन्त	SS
नित नव मंगल मोद बधाए।	,,	१६	,,	SS
भुवन चारिदस भूधर भारी,	,,	१६	,,	SS
सुकृत मेघ वरषहिं सुख बारी॥	,,	१६	,,	SS

---

४ अत्तर की गिनती यदा, कहुँ कहुँ गुरु-लघु नेम।
वर्ण वृत्त में ताहि कवि, मुक्तक कहें सप्रेम॥ (भिखारी दास)

शृंगार

(आदि में त्रिकल द्विकल ग-ल अंत।)

इसके प्रत्येक पाद में १६ मात्राएं होती हैं। पाद के अन्त में (गुरु-लघु ऽ।) आते हैं। यति पादान्त में होती है।

उदाहरण

(१) लखौ री नट वर नंद कुमार मात्राएं १६ अन्त ऽ।
जमुन तट रोक रहौ ब्रज नार। ,, १६ ,, ऽ।
(२) निछावर कर दें हम सर्वस्व ,, १६ अन्त ऽ।
हमारा प्यारा भारत वर्ष। ,, १६ ,, ऽ।

कुण्डल

(द्वादस षट-चार कलन, कुण्डिल छवि छाई।)

इसके प्रत्येक पाद में २२ मात्राएं होती हैं। अन्त में दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। यति १२—१० पर होती है।

उदाहरण

जय कृपालु कृष्णचंद, फंद के कटैया, मात्राएं २२
वृन्दावन कुंज कुंज, खोर के खिलैया। ,, २२
मोर मुकुट, हाथ लकुट, बेनु के बजैया, ,, २२
कवि 'बिहार' कृपा करहु, नन्द के कन्हैया॥ ,, २२

दिग्पाल

(कल भानु भानु भावैं, दिग्पाल छन्द गावैं।)

इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएं होती हैं। यति १२। १२ पर होती है। अन्त में दो गुरु वर्ण या कहीं कहीं ऽ। या। ऽ आते हैं। मात्रा ५। १७ लघु हों, तो लय ठीक बनती है।

उदाहरण

(१) पीछे कदम ज़रा भी, हक से न टालते हैं।
रण भूमि में खुशी से, निज रक्त डालते हैं॥
(२) सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोसताँ हमारा।

नोट—इसमें 'से' को लघु करके पढ़ा जाता है। इस से उसकी एक मात्रा गिनी जायगी। (देखो अपवाद नियम)।

यह छन्द प्रायः गज़ल की तर्ज़ पर ठेका कव्वाली में गाया जा सकता है।

रोला

(ग्यारह तेरह यती, मत्त चौबिस कह रोला)

इसके प्रत्येक पाद में चौबीस मात्राएं होती हैं। यति ११।१३ पर होती है। अन्त में दो गुरु या दो लघु पड़ते हैं।

उदाहरण

(१) ससि बिन सूनी रैन, ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र, पत्र बिनु तरुवर सूनो॥
(२) जो जग हित पर प्राण, निछावर है कर पाता।
जिस का तन है किसी, लोक हित में लग जाता॥

गीतिका

(रत्न रवि कल धारिकै लग, अन्त रचिये गीतिका।

इस के प्रत्येक पाद में २६ मात्राएं होती है। चौदह और बारह पर यति होती है। अन्त में लघु-गुरु (।ऽ) होते हैं।

उदाहरण

(१) धर्म के मग में अधर्मी, से कभी डरना नहीं।
चेत कर चलना कुमारग, में कदम धरना नहीं।

कहीं २ इसकी यति बारह और चौदह पर भी होती है—
यथा—राम ही की भक्ति में, अपनी भलाई जानिये।

हरिगीतिका

(श्रृंगार भूषण अंत ल-ग जन, गाइये हरिगीतिका।)

इस के प्रत्येक पाद में २८ मात्राएं होती हैं। सोलह और बारह पर यति होती है। अन्त में लघु-गुरु (।ऽ) होते हैं।

उदाहरण

कहती हुई यों उत्तरा के, नेत्र जल से भर गये।
हिम के कणों से पूर्ण मानों, हो गये पंकज नये॥

विधाता

(लहौ विद्या लहौ रत्नै, लखौ रचना विधाता की।)

इसके प्रत्येक पाद में २८ मात्राएं होती हैं। यति १४।१४ पर होती है। १, ८, १५ मात्राएं सदा लघु होती हैं।

उदाहरण

भलाई को न भूलेंगे, सुशिक्षा को न छोड़ेंगे।
हठीले प्राण खो देंगे, प्रतिज्ञा को न तोड़ेंगे॥

यह भी गज़ल की तर्ज पर गाया जा सकता है।

मात्रिक (अर्धसम)

इन छन्दों में भी मात्राओं की गिनती से पाद रचना का नियम है। पर इन में चारों चरण समान नहीं होते। प्रथम और तृतीय पाद एक समान होते हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एक समान होते हैं।

बरवै

(प्रथम तृतिय पद रवि कल, धर कर साज ।
द्वितिय चतुर मुनि कल रच, बरवै साज ॥)

इस में विषम पादों में १२ और सम पादों में सात मात्राएं होती हैं । साज—अन्त में एक जगण (।ऽ।) होना चाहिये । यति पादान्त में होती है ।

उदाहरण

सब से मिल कर रह मन, (प्रथम पाद १२ मात्रा)
बैर बिसार । (द्वितीय ,, ७ मात्रा, अन्त में ।ऽ।)
दुर्लभ नर तन पाकर, (तृतीय ,, १२ ,,)
कर उपकार ॥ (चतुर्थ ,, ७ ,, ,, ।ऽ।)

दोहा

(विषम चरण तेरह कला, सम ग्यारह निरधार ।
प्रथम तृतिय बरजित जगण, दोहा विविध प्रकार ॥)

दोहे के विषम पादों में (प्रथम तथा तृतीय पाद में) तेरह मात्राएं होती हैं, तथा सम पादों में (द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में) ग्यारह मात्राएं होती हैं, यति पादान्त में होती है । विषम पादों में जगण (।ऽ।) नहीं होना चाहिये । सम पादों के अन्त में लघु होना चाहिये । तुक सम पादों की मिलती है, विषमों की नहीं मिलती ।

उदाहरण

बनना चाहो वीर जो, (१३ मात्रा—×)
करना गौरव-त्राण । (११ मात्रा—तुक)

या कर धारो लेखनी,	(१३ मात्रा— ×)
या विकराल कृपाण ॥	(११ मात्रा—तुक)

सोरठा

(प्रथम तृतिय पद रुद्र, द्वितिय चतुर तेरह कला।
बिरचित बुद्धि समुद्र, दोहा उलटें सोरठा ॥)

इस में सम-चरणों में १३ और विषम चरणों में ११ मात्राएं होती हैं। यह दोहे का उलटा होता है। तुक प्रथम तृतीय पाद का मिलता है। कहीं २ द्वितीय चतुर्थ का भी मिल जाता है, पर उसका नियम नहीं।

उदाहरण

मूक होइ बाचाल,	११ मात्रा
पंगु चढ़ै गिरिवर गहना।	१३ ,,
जासु कृपा सु दयाल,	११ ,,
द्रवौ सकल कलिमल दहन ॥	१३ ,,

उल्लाला

(उल्लाल बिषम पंद्रह कला, सम पद तेरह धारिये।)

इस के विषम चरणों में १५ और सम चरणों में १३ मात्राएं होती हैं। यति पादान्त में होती है। तुक सम चरणों में मिलती है।

उदाहरण

हे शरणदायिनी देवि तू,	१५ मात्रा ×
करती सब का त्राण है।	१३ ,, तुक
हे मातृ भूमि संतान हम,	१५ ,, ×
तू जननी तू प्राण है।	१३ ,, तुक

मात्रिक (विषम)

इन छन्दों में मात्राओं और यति के नियम भिन्न २ चरणों में भिन्न२ होते हैं। इस से इन्हें विषम कहते हैं। ये प्रायः बड़े २ छः चरणों वाले छन्द होते हैं।

कुंडलिया

(धरिये चौबिस मत्त के, षट पद बुद्धि प्रमान,
दो पद दोहा के करौ, चौपद रोला मान।
चौपद रोला मान, छंद की लय पहचानों,
आदि अन्त के शब्द, एक सम हौं छबि आनों।
कवि 'बिहार' यह माँहि, रीति कुंडल की करिए,
जुरह गूँज से गूँज, नाम कुंडलिया धरिए॥)

इस छन्द में ६ चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में २४ मात्राएं होती हैं। चरणों का क्रम इस प्रकार है—

दोहे के प्रथम और द्वितीय चरण मिलाकर कुण्डलिया का प्रथम चरण। दोहे के तृतीय और चतुर्थ चरण मिलाकर कुण्डलिया का द्वितीय चरण। रोला के चार चरण क्रम से—कुण्डलिया के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ चरण।

अर्थात् एक पूरा दोहा और पूरा रोला छन्द मिला कर कुण्डलिया छन्द बनता है।

कुण्डलिया में दोहे के चौथे चरण के शब्द रोला के प्रारम्भ में दोहराये जाते हैं। कुण्डलिया में जिस शब्द से प्रारम्भ करते हैं उसी से अन्त करते हैं। यति के नियम वही हैं जो दोहा और रोला में है (१३।११ दोहे में और ११।१३ रोला में)

उक्त लक्षण में कुण्डलिया का उदाहरण भी विद्यमान है। यहां 'चौपद रोला मान' यह दोहे का अन्तिम चरण, रोला के प्रारम्भ में दोहराया गया है तथा 'धरिये' शब्द से प्रारम्भ करके अन्तिम शब्द फिर 'धरिये' है।

उदाहरण

दौलत पाय न कीजिये, सपने में अभिमान,
चंचल जल दिन चारि को, ठाँउ न रहत निदान।
ठांउ न रहत निदान, जिवत जग में जस लीजै,
मीठे बचन सुनाय, बिनय सब ही की कीजै।
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर तौलत,
पाहुन निसि दिन चारि, रहत सब ही के दौलत॥

छप्पय

इसके छः चरण होते हैं। प्रथम चार चरण तो रोला के और पिछले दो चरण उल्लाला के चारों चरणों को मिला कर बनाये जाते हैं। अर्थात् रोला और उल्लाला दोनों से मिलकर छप्पय बनता है।

उदाहरण

जहाँ स्वतन्त्र विचार, न बदलें मन में मुख में,
जहाँ न बाधक बने, सबल निबलों के सुख में।
सब को जहाँ समान, निजोन्नति का अवसर हो,
शान्तिदायिनी निशा, हर्ष सूचक वासर हो॥
सब भान्ति सुशासित हों जहाँ, समता के सुख कर नियम।
बस उसी स्वतन्त्र स्वदेश में, जागें हे जगदीश हम॥

वर्णिक वृत्त

इन छन्दों में वर्णों की संख्या और लघु-गुरु वर्णों के क्रम के नियम से पाद रखे जाते हैं। ये प्रायः सभी सम होते हैं। लघु-गुरु वर्णों का क्रम गणों की परिभाषा से दर्शाया गया है। प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द में दिया गया है जिस से छन्द ढूंढने में बड़ी सुगमता होगी।

अनुष्टुप

(वर्ण पंचम छोटा हो, दीर्घ हा आठवां छठा।
सातवां लघु युग्मों में, तो अनुष्टुप जानिये॥)

इसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। पञ्चम अक्षर लघु होता है। षष्ठ और अष्टम अक्षर गुरु होते हैं। सप्तम अक्षर सम पादों में लघु और विषम पादों में गुरु होता है।

उदाहरण

स्वस्तिवाद विरक्तों का, और ही कुछ वस्तु है।
वाक्यों में उन के होता, ईश का एवमस्तु है॥

इन्द्रवज्रा

(है इन्द्रवज्रा 'त त जा ग गा' से।)

इस के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इनका क्रम यह है— त त ज ग ग
SSI SSI ISI S S

उदाहरण

मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा,
है जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा।
सन्तान जो सत्यवती जनेगी,
राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥

उपेन्द्रवज्रा

(उपेन्द्रवज्रा 'ज त जा ग गा' से।)

इसके प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इनका क्रम यह है— ज त ज ग ग

।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ ऽ

उदाहरण

बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै,
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।
बिना विचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा॥

उपजाति

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण को उपजाति कहते हैं। इसके दोनों छन्दों के पाद-भेद से १६ भेद बन जाते हैं। यहां केवल दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

उदाहरण

(१) परोपकारी बन वीर आओ,	१	उपेन्द्रवज्रा
नीचे पड़े भारत को उठाओ।	२	इन्द्रवज्रा
हे मित्र त्यागो मद मोह माया,	३	इन्द्रवज्रा
नहीं रहेगी यह नित्य काया॥	४	उपेन्द्रवज्रा
(२) विवाह भी मैं न कभी करूंगा,	१	उपेन्द्रवज्रा
आजन्म आद्याश्रम में रहूँगा।	२	इन्द्रवज्रा
निश्चिन्त यों सत्यवती सुखी हो,	३	इन्द्रवज्रा
सन्तान से भी न कभी दुखी हो॥	४	इन्द्रवज्रा

भुजङ्गप्रयात

(भुजङ्गप्रयातं करो 'चार या' से ।)

इस के प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। इन का क्रम यह है— य य य य
ISS ISS ISS ISS

उदाहरण

अरी व्यर्थ है व्यञ्जनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई।
वही पाक है जो बिना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही उसे कौन खावे॥

तोटक

('स स सा स' कहें सब तोटक को।)

इस के प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। इन का क्रम यह है— स स स स
IIS IIS IIS IIS

उदाहरण

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
'हम भी कुछ हैं'—यह ध्यान रहे।
सब जाय अभी, पर मान रहे,
मरणोत्तर गुञ्जित गान रहे॥

वंशस्थ

(सुजान वंशस्थ कहें 'ज ता ज रा'।)

इस के प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। इन का क्रम यह है— ज त ज र
ISI SSI ISI SIS

उदाहरण

प्रवाह होते तक शेष श्वास के,
सरक्त होते तक एक भी शिरा।
सशक्त होते तक एक लोम के,
लगा रहूँगा हित सर्व भूत में॥

द्रुतविलम्बित

(द्रुतविलम्बित है 'न भ भा र' से।)

इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। उन का क्रम यह है—न भ भ र
ISS SII SII SIS

उदाहरण

न जिस में कुछ पौरुष हो यहाँ,
सफलता वह पा सकता कहाँ?
अपुरुषार्थ भयङ्कर पाप है,
न उस में यश है न प्रताप है॥

वसन्ततिलका

(होवे वसन्ततिलका 'त भ जा ज गा गा'।)

इसके प्रत्येक पाद में १४ अक्षर होते हैं। इनका क्रम यह है—
त भ ज ज ग ग
SSI SII ISI ISI S S

उदाहरण

रे क्रोध जो सतत अग्नि बिना जलावे,
भस्मावशेष नर के तनु को बनावे।
ऐसा न और तुझ सा जग बीच पाया,
हारे विलोक हम किन्तु न दृष्टि आया॥

मालिनी

('न न म य य' मिलें तो, मालिनी छन्द होवे।)

इसके प्रत्येक चरण में १५ अक्षर होते हैं। इन का क्रम यह है—न न म य य

III III SSS ISS ISS

उदाहरण

पल पल जिस के मैं, पन्थ को देखती थी,
निशिदिन जिस के ही, ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिस के है, सोहती मुक्त-माला,
वह नव-नलिनी-से, नैनवाला कहाँ है॥

पञ्चचामर

('ज रा ज रा ज गा' कहें, सुबुद्ध पञ्चचामरम्।)

इस के प्रत्येक चरण में १६ अक्षर होते हैं। यति आठ-आठ पर होती हैं। अक्षरों का क्रम यह है—(एक लघु, एक गुरु इसी प्रकार अन्त तक)। ज र ज र ज ग

ISI SIS ISI SIS ISI S

उदाहरण

उसी उदार की कथा, सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा, कृतार्थ भाव मानती।
उसी उदार की सदा, सजीव कीर्ति कूजती,
तथा उसी उदार को, समस्त सृष्टि पूजती॥

मन्दाक्रान्ता

(मन्दाक्रान्ता, फल-रस यती, 'मा भ ना ता त गा गा'।) (फल-४, रस-६।)

इसके प्रत्येक चरण में ३७ वर्ण होते हैं। यति ४।६।७ पर होती है। वर्णों का क्रम यह हैं—म भ न त त ग ग

SSS SII III SSI SSI S S

उदाहरण

दो वंशों में प्रकट करके, पावनी लोकलीला,
सौ पुत्रों से, अधिक जिनकी, पुत्रियां पूतशीला।
त्यागी भी हैं, शरण जिनके, जो अनासक्त गेही।
राजा योगी, जय जनक वे, पुण्यदेही विदेही॥

शिखरिणी

(यती छः ग्यारा पै, 'य म न स भ ला गा' शिखरिणी।)

इस के प्रत्येक चरण में १७ अक्षर होते हैं। छः और ग्यारह पर यति होती है। अक्षरों का क्रम यह है—

य म न स भ ल ग
ISS SSS III IIS SII I S

उदाहरण

मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या सँभल के,
बहे आँसू होके, सखि सब उपालम्भ गल के।
उन्हें हो आई जो, निरख मुझ को नीरव दया,
उसी की पीड़ा का, अनुभव मुझे हा! रह गया॥

शार्दूलविक्रीडित

(मास-द्वीप 'म सा ज सा त त ग' से, शार्दूलविक्रीडिता।)

(मास—१२, द्वीप—७)

इस के प्रत्येक चरण में १६ अक्षर होते हैं। यति १२ और ७ पर होती है। अक्षरों का क्रम यह है—

म स ज स त त ग

SSS IIS ISI IIS SSI SSI S

उदाहरण

जाती प्रेम न जाति-पाँति तुझ से, पूछी किसी की कहीं,
तेरे सन्मुख रङ्क और नृप में है भेद होता नहीं।
दोनों ही बन और गेह जग में, हैं तुल्य तेरे लिये,
ऊंचे मन्दिर से कुटी तक सभी, हैं चाह तेरी किये॥

स्रग्धरा

('मा रा भा ना य या या,' सत-सत यति से, स्रग्धरा मानते हैं)

इसके प्रत्येक चरण में २१ अक्षर होते हैं। सात, सात, सात पर यति होती है। अक्षरों का क्रम यह है—

म र भ न य य य

SSS SIS SII III ISS ISS ISS

उदाहरण

नाना फूलों फलों से, अनुपम जग की, वाटिका है विचित्रा,
भोक्ता हैं सैंकड़ों ही, मधुप शुक तथा, कोकिला गानशीला।
कौवे भी हैं अनेकों, पर धन हरने, में सदा अग्रगामी,
कोई है एक माली, सुधि इन सब की, जो सदा ले रहा है॥

सवैया

एक पाद में २२ अक्षरों से लेकर २६ अक्षरों तक वाले छन्द सवैया कहे जाते हैं। इनके कई भेद हैं। यहाँ एक दो के ही लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं।

मत्तगयंद

(मत्तगयंद कहें उस को, जब 'सात भ' दो गुरु अंत मिलें तो ।)

इस के प्रत्येक चरण में २३ अक्षर होते हैं। पहले सात भ-गण फिर अन्त में दो गुरु वर्ण।

भ भ भ भ भ भ भ ग ग

SII SII SII SII SII SII SII S S

उदाहरण

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहुँ सिद्धि नवोनिधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं,
कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

नोट—यहां पर छन्द की शुद्धि के लिये द्वितीय पाद में 'नन्द की गाय' में 'की' को लघु पढ़ना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्थ पाद में 'कलधौत के' और 'करील के' में 'के' को भी लघु पढ़ना चाहिये (देखो अपवाद नियम)।

दुर्मिल

इस के प्रत्येक चरण में २४ अक्षर होते हैं। ये आठों सगण होते हैं—

स स स स स स स स

IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS IIS

उदाहरण

शुभ सत्य सनातन धर्म वही, जिस में मत पन्थ अनेक नहीं,
बल वर्द्धक वेद वही जिस में, उपदेश अनर्थक एक नहीं।

सुख मूल समाधि वही जिसमें, व्रत बन्धन की कुछ टेक नहीं।
कवि 'शङ्कर' बुद्धि विशुद्ध वही जिसके मन में अविवेक नहीं॥

नोट—दुर्मिल के अन्त में एक गुरु और बढ़ा देने से 'सुन्दरी सवैया' हो जाता है। इसी छन्द के अन्त में 'है' और पढ़ने से यह सुन्दरी हो जायगा।

दण्डक

जिन छन्दों के एक पाद में २६ से अधिक अक्षर हों, उन्हें दण्डक कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—प्रथम वे जिनमें अक्षरों के लघु गुरु का क्रम नियत होता है। दूसरे वे जिनमें केवल अक्षरों की संख्या नियत होती है, लघु गुरु का क्रम कोई नहीं होता। उन्हें मुक्तक कहते हैं।

दण्डकों में 'सुधानिधि' और 'अनंग-शेखर' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें एक गुरु एक लघु के क्रम से (सुधानिधि) या एक लघु एक गुरु के क्रम से (अनंग शेखर में) अक्षर रखे जाते हैं।

मुक्तकों में घनाक्षरी, रूप घनाक्षरी, देव घनाक्षरी आदि प्रसिद्ध हैं। ये ३१, ३२ और ३३ अक्षरों के छन्द हैं। आज कल इनका प्रयोग बहुत कम होता है।

———

परिशिष्ट (ख)

उदाहरण-माला

नीचे विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये कुछ पद्य दिये जाते हैं। इन में जिस २ पद्य में जो २ अलङ्कार है, उसका नाम बता कर उसके लक्षण को घटावें। जहां किसी पद्य में एक से अधिक अलङ्कारों के लक्षण घटते हों, वहां किस २ अंश में कौन अलङ्कार है, इस का भी निरूपण करें। कई अलङ्कारों का नाम साथ दे दिया है। उन में लक्षणों का समन्वय करें कि कैसे वहां पर उल्लिखित अलङ्कार हैं! साथही जिन पद्यों के साथ ॐ यह चिन्ह लगा है, उनके छन्दों का भी पता करें कि उन में (१) कौन २ मात्रिक छन्द हैं और कौन २ वर्णिक। (२) मात्रिक छन्दों के प्रत्येक पाद की मात्राएं गिनें और बताएं कि वहां कौन सा छन्द है। (३) वर्णिक वृत्तों में प्रत्येक पाद के अक्षर गिनें। उनके लघु-गुरु लगाकर गणों का पता करें। फिर उन का लक्षण घटा कर उसका नाम बताएं। इस प्रकार लिखकर और अपने अध्यापकों को दिखा कर अभ्यास करने से छन्दों और अलंकारों के ज्ञान में विद्यार्थियों को आशातीत लाभ होगा।

(१) अयि, दयामयि देवि, सुखदे, सारदे,
इधर भी निज वरद-पाणि पसार दे॥

(२) फूट फूट कर फूट रही है, उद्यमता सिर कूट रही है॥

(३) अब यह मिटे अविद्या रात, रुज-रजनीचर करें न घात॥(रूपक)

*(४) देख कर उस काल उसको, जान पड़ता था यही,
मूर्तिमान महत्व से मण्डित हुई मानों मही ॥
(५) दरस-भूख लागे दृगन, भूखहिं देत भगाइ ॥
(६) मोर मनोरथ-सुर-तरु फूला । फलत करिनि जनु हतेउ समूला ॥
(७) अवध तहाँ जहँ राम निवासू । तहाँ दिवस जहँ भानु प्रकासू ॥
(८) सुरभित, सुन्दर, सुखद, सुमन तुझ पर खिलते हैं ।
भान्ति भान्ति के सरस, सुधोपम फल मिलते हैं ॥ (अनुप्रास)
(९) निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुठि सोच ।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहिं सलिल सँकोच ॥
(१०) तेरा तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सों ॥
*(११) श्रीसरजा शिव तो जस सेत सों, होत हैं वैरिन के मुँह कारे ॥
(१२) दुख सुख सब कहँ होत है, पौरुष तजहु न मीत ।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ॥ (लोकोक्ति)
*(१३) लौटे अतः सत्यवती बिना ही, पाया उन्होंने दुख चित्तदाही ।
पावें व्यथा क्यों न सदा अनन्त, अकार्य तो भी करते न सन्त ॥
(अर्थान्तरन्यास)
*(१४) प्रेमसिन्धु में स्वजन वर्ग को शीघ्र नहा दो ।
शत्रुजनों का गर्व खर्व कर सर्व बहा दो ॥
*(१५) चरित है मूल्य जीवन का, वचन प्रतिबिम्ब है मन का ।
सुयश है आयु सज्जन की, सुजनता है प्रभा धन की ॥
(१६) उपवन में अति भरी उमङ्ग, कलियां खिलती हैं बहु रंग ।
पर मिलता है, उनको मान, जो हैं सुखद सुगन्ध निधान ॥
(अप्रस्तुतप्रशंसा)

(१७) रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जग मग जगते थे॥
(१८) आंखें ये निगोड़ी खूब ऊधम मचाती हैं।
आप कल पाती नहीं, हमें कलपाती हैं॥ (यमक)
(१९) केतकी की, कुन्द की, कदंब की है कथा कौन।
कल्पलतिका में कहां कांति उस जैसी है॥
(२०) यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई।
आप विधि के हाथ से ढाली गई॥
(२१) स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहां,
किन्तु सुरसरिता कहां, सरयू कहां।
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती॥ (व्यतिरेक)
(२२) वे ज्यों कवि-कुल-देव धरा पर धन्य थे।
ये नायक नर-देव अपूर्व अनन्य थे॥
(२३) ज्वाला सी किसी को, मणिमाला सी किसी को,
सुरबाला सी किसी को, वह देती दिखलाई है॥ (उल्लेख)
(२४) पहले आंखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे॥
*(२५) सखि नील-नभस्सर में उतरा, यह हंस अहा! तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता॥
(२६) काले बादलों से, केश उसके विलोक जब,
मोर नाचते हैं, वह फूली न समाती है॥ (भ्रांति)
*(२७) इस तत्व पर ही कौरवों से, पाण्डवों का रण हुआ।
जो भव्य भारत वर्ष के, कल्पान्त का कारण हुआ॥

❀(२८) निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही हैं श्रीमान, भोगते सुख बन में भी॥

(२६) रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी।
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी॥

❀(३०) निबल के बल केवल राम हैं॥ (यमक)

❀(३१ सुमन में न सुगन्ध समायगी, पवन में वन में भर जायगी॥

(३२) बहुरि सक्रसम विनवउँ तेही, संतत सुरानीक प्रिय जेही॥
(श्लेष)

❀(३३) महाराज रघुराज जू, कीजै कहा गुमान।
दंड, कोस, दल के धनी, सरसिज आप समान॥ (प्रतीप)

(३४) नहिं पलास के पुहुप ये, हैं ये जरत अंगार॥

❀(३५) तनिक भीरु कभी रुकते नहीं॥ (यमक)

(३६) बलिहारी नृपकूप की, गुण बिन बूँद न देय॥

(३७) लही न कतहुँ हारि हिय मानी, इन्ह सम ये उपमा उर आनी॥
(अनन्वय)

(३८) जन्म सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक॥

(३६) नाक दम रहै जौ लौं, ना कदम टारैंगे॥ (यमक)

(४०) गङ्गाजल मुख परत ही, पाप ताप भे दूर॥ (अतिशयोक्ति)

(४१) नगी कन्यका पन्नगी को बजावै, सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावै॥

(४२) कहेउ लषन मुनि सील तुम्हारा, को नहिं जान विदित संसार।
मात पितहिं उरिन भये नीके, गुरुरिन रहा सोच बड़ जी के॥

(४३) चन्द न, चन्दनविन्दु यह, मांग, न सुरसरिधार।
त्रिय न नैन, मोती लसै, मैन ! मैं न हर-नार॥ (भ्रांतापह्नुति)

(४४) कर गहि पग-अंगूठा मुख मेलत,
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रंग खेलत ॥
(४५) नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ॥
(४६) देख लो साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर-दृग जुड़ रहे ॥
(४७) समन्दर कर दिया नाम उसका, नाहक़ सब ने कह कह कर।
हुए थे कुछ जमा आंसू, मेरी आंखों से बह बह कर॥ (अत्युक्ति)
*(४८) राम-चरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥
(४९) भरतहिं होइ न राजमद, विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि, छीर-सिन्धु बिनसाइ॥
(५०) सन्त शैल सम उच्च हैं, किन्तु प्रकृति सुकुमार॥
(५१) बेगि बुझावहु बरत बन, विरहिनि कह्यौ पुकार।
सखिन कह्यौ किंसुक कुसुम, नाहिन ये अंगार॥ (भ्रान्तापह्नुति)
(५२) सुगुन छीर अवगुन जल ताता, मिले रचेउ परपंच विधाता।
भरत हंस रविबंस तडागा, जन्मि कीन्ह गुन दोस विभागा॥
(रूपक)
*(५३) मन ! रमा, रमणी, रमणीयता, मिलगईं यदि ये विधियोग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा, रसिकता सिकता सम है उसे।
(५४) तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥ (विरोधाभास)

(५५) सज्जन जन को रहत सम, उदय अस्त में चित्त।
अरुण यथा रवि उदय में, तथा अस्त में नित्त ॥
(५६) कामधेनु अरु काम तरु, चिन्ता मनि मन मानि।
चौथो तेरो सुयश हूं, है मनसा-फल-दानि ॥ (तुल्ययोगिता)
(५७) तरुवर दें फल फूल दल, यही सिखावै नीति।
लहि संपति आदर करहु, आये को यह रीति ॥ (निदर्शना)
(५८) बणिक, ईख, नींबू तथा, थन, तिलहन अरु आम।
दाबे ही ते देत रस, जानत जगत तमाम ॥ (दीपक)
(५९) लाज-भरे, लाग-भरे, लाभ-भरे, लोभ-भरे,
लाली-भरे, लाड़-भरे लोचन हैं लाल के ॥
(६०) निष्कलंक सिय-वदन शुभ, शशि है नित सकलङ्क ॥
(६१) विरह ज्वाल की जरन सों, मरन भलो अति जान।
मीचु एक ही दिन दहै, दहै बिरह नित प्रान ॥ (व्यतिरेक)
(६२) केहि बिधि कहिये सिय-वदन, सरस कमल सम होय।
यह अनुदिन बिकसित रहै, निशि मलीन है सोय ॥
(६३) आली री, इन चखन की, जानै कैसी प्यास।
छकि छकि छवि-रस पियत पै, रहै प्यास की आस ॥ (विशेषोक्ति)
(६४) मोहन मथुरा जात सुनि, दुखित भई व्रजबाल।
कारन बूझै ते कह्यो, मिल्यौ न नैहर हाल ॥ (व्याजोक्ति)
(६५) सांची भई कहनावति लोक की, ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।
(६६) धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति विहँसि गोद बैठाये ॥
(स्वभावोक्ति)
(६७) हिय हरि लीन्हें सबन के, रूप दिखाइ ललाम।
ऊधव, याही ते परयो, सांचो ही हरि नाम ॥ (निरुक्ति)

(६८) खंजन जुग लखि राम जू, कहत कठिन यह हीय।
हाय किते मेरी गई, खंजन नयनी सीय॥ (स्मरण)

(६९) कनक गात राधा चली, हरि सँग बन की ओर।
हरषि चले लखि मुग्धमन, चातक, मोर, चकोर॥ (भ्रान्ति)

(७०) जग-मृगतृष्णा में भटकि, मन-कुरङ्ग अकुलाय।
नाथ! दयोदधि बीचि बिच, चाहत शान्ति अन्हाय॥

(७१) तव कलत्र यह मेदिनी, है भुजंग संसक्त।
कापै करत गुमान नृप, ह्वै तासों अनुरक्त॥ (व्याजस्तुति)

(७२) कृपण! तिहारे चरित नित, कैहैं सुनि हैं लोग।
नहीं नहीं, तव नाम हूँ, कबहुँ न लेवे जोग॥ (आक्षेप)

(७३) चन्द्रमुखी तुम बिन भई, ज्वालामुखी समान॥

(७४) राधे! तेरा चन्द मुख, उर उपजावत दाह॥

(७५) पिय आवत सुनि आतुरी, करि कै वह सुकुमारि।
कटि की लै कै किंकिणी, चली हिये पै डारि॥

(७६) गई रही हरि भजन को, ओटन लगी कपास॥

(७७) सो घनश्याम जो देय रस, रस वह जो सुख देय।
सुख वह जा ते देह मन, निज अभीष्ट लहि लेय॥

(७८) सो दया जु न धर्म धरै, धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न 'केशव', साँच न सो जु बसै छल माहीं॥
(एकावली)

(७९) विद्या के बिन विनय नहिं, ता बिन नर न सुपात्र।
बिन सुपात्रता धन नहीं, ता बिन धर्म न अत्र॥

(८०) राधे! तेरी चतुरता, को न सराहे देत।
दै कै कठिन कटाक्ष तू, हिय हीरा लहि लेत॥ (परिवृत्ति)

(८१) उत्तम भूषण कौन ? यश, नहिं कनकालङ्कार।
सखा कौन जग ? धर्म है, नहिं नर आदिक यार॥ (परिसंख्या)

(८२) बैदन के गृह रहत खल, खल समाज मैं नाहिं।
रंज मिलै शतरंज मैं, ताप प्रतापहि माहिं॥

(८३) यतिवर श्रुति सेवी सदा, पड़त कामिनी-जाल।
औरन को तब हाल का, कैसे कहै 'रसाल'॥ (काव्यार्थापत्ति)

(८४) कैसे फूले देखियत, प्रात कमल के गोत।
'दास' मित्र उद्योत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥ (अर्थान्तरन्यास)

*(८५) तेरा होना, उदय व्रज में, तो अन्धेरा करेगा॥

(८६) पानी घड़ी चुरावती, मार खात घड़ियाल॥ (असंगति)

(८७) सिंह पछारयो बाहुबल, कहा स्यार की बात॥

(८८) नामहिं में नहिं नीति, का करैं नयन ये नीति॥ (निरुक्ति)

(८९) अवसर पर कीयो नहीं, यदि प्रयत्न हित-हेत।
फिर पछताये होत का, चिड़ियां चुग गईं खेत॥

(९०) चित्र भी था चित्र और विचित्र भी,
रह गये चित्रस्थ से सौमित्र भी॥

केवल छन्द

(९१) पाय के नर जन्म प्यारे, राम के गुण गाइये॥

(९२) जो जग-हित पर प्राण, निछावर है कर पाता॥

(९३) रघुवर-विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे त्रस्त है,
यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी, धीर वीर प्रशस्त है॥

(९४) अनित्य देह के लिये अनादि जीव क्या डरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे॥

(९५) द्विज वेद पढ़ैं सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को॥

(९६) व्रज अवनि बता दो नाथ, कैसे बसेगी।
बिन बदन बिलोके आज कैसे बचूंगी ॥

(९७) लाई है क्षीर क्यों तू, हठ मत कर यों, मैं पियूंगी न आली ॥

(९८) तारे डूबे, तम टल गया, लालिमा व्योम छाई ॥

(९९) श्री वृन्दावन की मनोज्ञ मधुरा, श्यामायमाना मही ॥

(१००) दयासिन्धो बन्धो, भगवन कृपा मो पर करो ॥

समाप्त ।